N. ramanathan

dhrupad annual

1987

ध्रुपद वार्षिकी

१९८७
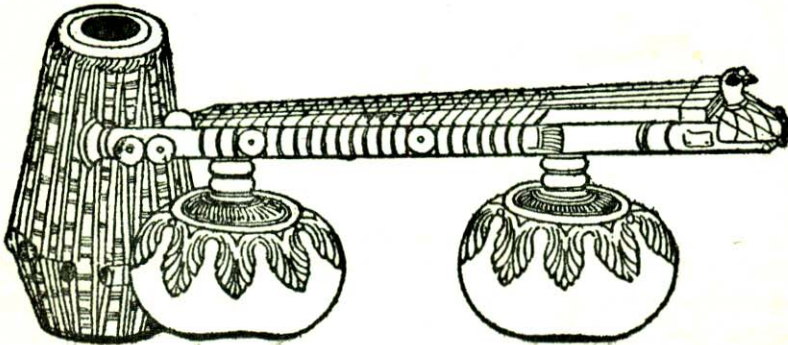
OBJECTIVES :

1. To present a chronicle of the wave of scholarly and popular awakening about Dhrupad that originated a few years ago.
2. To stimulate and promote scholarly work about Dhrupad.
3. To prepare reference material for research on various aspects of Dhrupad.

Bilingual Nature of the Journal :

Articles in English have been summarised in Hindi and *vice-versa*.
Subscriptions : Rs. 50/- Inland; Foreign $ 10.

उद्देश्य :

१. गत कुछ वर्षों में ध्रुपद के सम्बन्ध में विशेष (विद्वज्जनोचित) और सामान्य जागरण की जो लहर उठी है, उसका काल-क्रमानुसारी विवरण प्रस्तुत करना।

२. ध्रुपद को लेकर विद्वत्तापूर्ण कार्य को प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करना।

३. ध्रुपद के विभिन्न पक्षों पर शोधकार्य के लिए सामग्री प्रस्तुत करना।

पत्रिका का द्विभाषामय स्वरूप :

अंग्रेजी लेखों का हिन्दी में और हिन्दी लेखों का अंग्रेजी में सार-संक्षेप प्रस्तुत है।
शुल्क : भारत में ५० रु. विदेश में १० डालर

Published by the All India Kashi Raj Trust on behalf of the Maharaja Benares Vidya Mandir Trust and Printed at the Ratna Printing Works, Kamachha, Varanasi.

DHRUPAD ANNUAL 1987

Vol. II

ध्रुपद वार्षिकी १९८७

द्वितीयाङ्क (महाशिवरात्रि वि० सं० २०४३)

Maharaja Banaras Vidya Mandir Trust

Contents—लेखसूची

Dr. Jaideva Singh

Photographed by David Peters, January 1986 (Kind courtesy Dr. Bettina Bäumer)

श्रद्धाञ्जलि

भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य मर्मज्ञ, दर्शनशास्त्र, इतिहास और संगीतशास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान्, अनन्य संगीत-रसिक, मनीषि-प्रवर **ठाकुर जयदेव सिंह** का ध्रुपद के प्रति अशेष अनुराग था और अपनी वाणी और लेखनी दोनों से आप ध्रुपद, बीन और पखावज के त्रिक का यशोगान और उसके भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान की सुदीर्घ काल तक व्याख्या करते रहे। ध्रुपद के प्रयोक्ताओं, श्रोताओं, गुरुओं, विद्यार्थियों, शोधार्थियों सभी के लिए आप आलोक-स्तम्भ थे। ध्रुपद-लोक के इस पंचक की ओर से आपकी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

Homage

Thakur Sri Jaidev Singh, the doyen of Indian Culture, penetrating scholar of philosophy, history and *Saṅgīta-śāstra*, unique *Saṅgīta-Rasika* and visionary, had great love for *Dhrupad* and he 'sang' the glory of the triad of *Dhrupad*, *Been* and *Pakhawaj* with his spoken and written word for quite a long time. He was like a light-post for performers, teachers, students and researchers of *Dhrupad*. Sincere homage is offered to him on behalf of this Pañcaka (group of five) of the realm of *Dhrupad*.

सम्पादकीय

ध्रुपद के सम्बन्ध में पुनर्जागरण, पुनराकलन अथवा पुनरुद्धार की जो प्रबल लहर १९७५ में उठी थी उसी की एक विशिष्ट परिणति **ध्रुपद वार्षिकी** के रूप में ठीक ग्यारह वर्ष बाद सन् १९८६ ई० में प्रकट हुई। इससे ध्रुपद के अध्ययन में एक नया आयाम खुला है, इसमें संदेह नहीं। जिन दिशाओं में अध्ययन का सूत्रपात हुआ है उनका आकलन इस द्वितीय अंक में आवश्यक और उचित प्रतीत होता है।

१. पदाधारित अध्ययन :

प्रथम अंक में डा० सुभद्रा चौधरी और द्वितीय अंक में डा० फ्रान्सवाज़ देल्वोआ "नलिनी" के लेख इस दिशा में हुए प्रयत्नों का लेखाजोखा प्रस्तुत करते हैं और भविष्य के लिए दिशा-सूचन के अग्रदूत हैं।

२. ध्रुपद का लक्षण और स्वरूप :

ध्रुपद का लक्षण सर्वप्रथम भावभट्ट के ग्रन्थों में मिलता है। प्रथम अंक में श्री आदिनाथ उपाध्याय के लेख में इन ग्रंथों का परिचय निबद्ध है। प्रस्तुत अंक में डा० मुकुन्द लाठ के लेख में ध्रुपद के प्रसंग में शैली के स्वरूप को लेकर गंभीर प्रश्न उठाये गये हैं और ध्रुपद की शैलीगत विशेषता की खोज प्रस्तुत की गयी है। इस दिशा में आगे विचार-चर्चा के लिए प्रभूत क्षेत्र है।

३. ध्रुपद की विभिन्न धारायें या परम्परायें :

इसके अन्तर्गत प्रथम अंक में हम डागर-परम्परा और दरभंगा-परम्परा पर परिचयात्मक लेख प्रस्तुत कर चुके हैं। आज मन्दिरों की धारा के अतिरिक्त ये दो ही धाराएँ ध्रुपद में सर्वविदित हैं। किन्तु उड़ीसा और छत्तीसगढ़ में भी ध्रुपद की परम्परा के छिटपुट प्रतिनिधि रहे हैं और उनका विवरण क्रमशः प्रस्तुत करने की हमारी योजना है। उत्तर-प्रदेश में भी कानपुर के आस-पास के गाँवों में ध्रुपद-गायक रहे हैं, जिनके पास अप्रचलित तालों में निबद्ध ध्रुपदों का संग्रह सुरक्षित है। उनका विवरण प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक शोध के लिए हम प्रतिबद्ध हैं। ध्रुपद के अन्य केन्द्र भी रहे हैं। जैसे—बुंदेलखण्ड में दतिया, टीकमगढ़। केरल में सुरक्षित सोपानम् नाम की गीत-विधा का भी ध्रुपद के साथ कुछ सादृश्य हो सकता है, ऐसी सम्भावना कुछ विद्वानों के चित्त में है। इस सम्भावना का परीक्षण भी हमारे संकल्प के अन्तर्गत है।

४. तत वाद्यों पर ध्रुपद शैली की प्रस्तुति :

इस विषय पर प्रथम अंक में श्री विमलेन्दु मुखर्जी का लेख है। भविष्य में इस विषय के विस्तार के लिए उपयोगी सामग्री के प्रति हम आशान्वित हैं।

५. ध्रुपद का नृत्य से सम्बन्ध :

इस विषय पर प्रथम अंक में डा० हरिहर निवास द्विवेदी का लेख समाविष्ट है। प्रस्तुत अंक में डा० प्रेमलता शर्मा का लेख द्रष्टव्य है।

६. पुस्तक सूची :

इसका सशक्त शुभारम्भ प्रथम अंक में हो गया है। प्रस्तुत अंक में अद्यतन सूचना संकलित है। इसके साथ ही प्रस्तुत अंक में डिस्कोग्राफ़ी (ग्रामोफोन रिकार्ड्स की सूचना) का भी आरम्भ किया गया है। इसे क्रमशः पुष्ट करने की योजना है।

७. ध्रुपद का रचनागत विश्लेषण :

इस प्रसंग में प्रस्तुत अंक में डा० प्रेमलता शर्मा का "ध्रुव" सम्बन्धी लेख द्रष्टव्य है। ध्रुपद के पदों में छाप का कितने विविध प्रकारों से प्रयोग पाया जाता है और उसको लेकर क्या समस्यायें उठती हैं, इस विषय पर भी डा० प्रेमलता शर्मा का लेख प्रस्तुत अंक में है।

८. सामान्य :

भारतीय संगीत के अधुनातन परिवेश में ध्रुपद का क्या स्थान अथवा योगदान अपेक्षित है—इस पर प्रस्तुत अंक में डा० सुमति मुटाटकर का लेख प्रासंगिक है।

९. ध्रुपद समारोहों के परिणाम :

गत बारह वर्षों में जो विभिन्न प्रकार के ध्रुपद समारोह हुए हैं, उनके कई गंभीर और व्यापक परिणाम सहज हो निष्पन्न हुए हैं। इन परिणामों का आकलन ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होगा। ये परिणाम स्थूल और सूक्ष्म—दोनों स्तरों पर दिखाई देते हैं और इन्हें समझकर इनका आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करना अपने आप में इतिहास का निर्माण है। उदाहरण-स्वरूप कुछ परिणामों अथवा नवीन प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

(क) ध्रुपद का गान बीन अर्थात् रुद्रवीणा की संगति से होता था, यह तो इतिहास-प्रसिद्ध बात है, किन्तु आज बीन की संगति सुदुर्लभ है। इसलिए कुछ गायक तो केवल तानपूरे के सहारे पर ही अपना गान प्रस्तुत करते हैं, किन्तु जो लोग तानपूरे के अतिरिक्त भी किसी वाद्य का सहारा चाहते हैं, उन्हें प्रारम्भिक ध्रुपद मेलों में हार्मोनियम ही सुलभ था। ध्रुपद के प्रसग में हार्मोनियम के ग्रहण को सर्वथा बेमेल समझ कर प्रस्तुत लेखिका ने सर्वप्रथम १९७९ में वृन्दावन में आयोजित ध्रुपद मेले में हार्मोनियम का बहिष्कार करके सारंगी की संगति प्रस्तुत करायी। इसके पूर्व ध्रुपद के साथ कभी भी सारंगी की संगति हुई हो, ऐसा कम से कम लेखिका को ज्ञात नहीं है। सारंगी का ग्रहण ध्रुपद के प्रसङ्ग में उसकी उपयोगिता के स्वीकार से प्रेरित नहीं था, अपितु हार्मोनियम को अपदस्थ करने के प्रयास में सारंगी का स्वीकार आवश्यक हो गया था। अब तो ध्रुपद समारोहों में सारंगी चल निकली है। ध्रुपद के आलाप में, विशेषतः

जोड़ में सङ्गत करना सारंगी के लिए चुनौती के सदृश था। इस चुनौती का सामना सारंगी ने किस प्रकार किया या कर रही है, यह स्वतंत्र अध्ययन का विषय है। यहाँ इतना ही संकेत करना अभीष्ट है कि आवश्यकता से प्रेरित होकर ध्रुपद की सङ्गति में एक ऐसे वाद्य का समावेश हुआ जिसका इतिहास ध्रुपद के साथ किसी भी प्रकार से जुड़ा नहीं था। यह एक ऐतिहासिक घटना है जिसका अङ्कन आवश्यक है। ध्रुपद के क्षेत्र में सारंगी का प्रवेश कब और कैसे हुआ, इसकी जानकारी यदि सही ढंग से अङ्कित न रहे तो भविष्य में कई भ्रान्तियों का जन्म हो सकता है।

(ख) ध्रुपद समारोहों की शृङ्खला में मुख्य रूप से दो प्रकार के आयोजन हुए हैं। एक तो वे जिनमें विभिन्न परम्पराओं के गायक-वादक सम्मिलित हुए हैं और ऐसे आयोजनों की ही संख्या अधिक है। दूसरे वे जो किसी एक परम्परा पर ही केन्द्रित रहे हैं। उदाहरण के लिए—डागर सप्तक १९८२ में भोपाल और १९८३ में कलकत्ता में आयोजित हुआ था, जिसमें केवल डागर परम्परा के ही प्रतिनिधि सम्मिलित थे। उसी प्रकार हाल ही में जबलपुर में मन्दिरगत ध्रुपद परम्परा का समारोह हुआ जिसमें मन्दिर-परम्परा के ही प्रतिनिधि आमंत्रित थे। इन दोनों प्रकार के समारोहों का अपना-अपना सूक्ष्म प्रभाव होता है। जब विभिन्न परम्पराओं के प्रयोक्ता एक ही "रंग" (मंच) पर उपस्थित होते हैं तब एक दूसरे की विशेषताओं के प्रति वे जागरूक बनते हैं और एक दूसरे की आँखों में अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए वे कुछ नवीन प्रवृत्तियों का भी अङ्गीकार करते हैं। किसी भी परम्परा का नाम लिये बिना यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि गांधर्व के तीन घटक, स्वर, ताल और पद हैं और आज हमें ध्रुपद की जो तीन प्रमुख परम्पराएँ उपलब्ध हैं, उनमें से एक स्वर-प्रधान, दूसरी ताल-प्रधान और तीसरी पद-प्रधान है। जब इन तीनों परम्पराओं के प्रयोक्ता एक ही आयोजन में उपस्थित होते हैं तब जिनकी परम्परा स्वर-प्रधान है, वे भी किसी सीमा तक ताल के वैचित्र्य की सृष्टि की ओर उन्मुख होते हैं, जिनकी परम्परा ताल प्रधान है, वे भी स्वर के प्रति अधिक जागरूक बनते हैं और जो पद-प्रधान रहे हैं वे भी स्वर-ताल के वैचित्र्य के प्रति प्रयत्नशील होते हैं। यह परस्पर सूक्ष्म प्रभाव इस प्रकार के समारोहों या सम्मेलनों की देन है। जब एक ही परम्परा के प्रतिनिधियों का सम्मेलन होता है तब सूक्ष्म प्रभाव यह होता है कि सभी सदस्यों का परस्पर सौहार्द बढ़ता है और उनके छोटे-मोटे आपसी रागद्वेष प्रशमित होते हैं। मिले-जुले आयोजनों में भी किसी एक परम्परा के प्रतिनिधियों में परस्पर सहयोग के प्रसङ्ग उपस्थित होते रहे हैं। उदाहरण के लिए, डागर-परम्परा में गायन के साथ रुद्रवीणा की संगति के शुभारम्भ का उल्लेख किया जा सकता है। लेखिका इन सब सूक्ष्म प्रभावों की साक्षी रही है और इसीलिए उन्हें यहाँ संक्षेप में अङ्कित करना उचित समझती है।

(ग) एक अन्य नवीन प्रवृत्ति आजकल दिखायी दे रही है, किन्तु यह ध्रुपद सम्मेलनों का ही परिणाम हो, ऐसा कहना कठिन है। मौखिक परम्परा में यह बात सुनी जाती रही है कि ध्रुपद-पद्धति में किसी भी पूर्ण प्रयोग में पहले ध्रुपद और उसके पश्चात् धमार की प्रस्तुति की रीति थी। धमार यदि ध्रुपद से भिन्न राग में होता था तो भी उस राग की सर्वांगपूर्ण आलापचारी आवश्यक नहीं मानी जाती थी। साथ ही उपज अर्थात् पद-लय-प्रधान वैचित्र्य के सर्जन के लिए धमार को ही उपयुक्त समझा जाता था। ध्रुपद में बंदिश से स्वतंत्र रागालाप और बन्दिश की प्रभावशाली प्रस्तुति (बिना किसी लय-वैचित्र्य के) ही मान्य थी। किन्तु आज की स्थिति भिन्न है। आज किसी भी प्रयोग (performance) में कई बार प्रथम या प्रमुख राग की आलापचारी के बाद धमार सुनने को मिलता है और ध्रुपद में भी उपज का काम खुल कर होता है। इस प्रकार ध्रुपद और धमार की अपनी-अपनी निजस्व रीति लुप्त होती जा रही है। इस प्रवृत्ति के कारणों की खोज आवश्यक है। यहाँ तो इसका अंकन मात्र अभिप्रेत है।

ध्रुपद वार्षिकी के उज्ज्वल भविष्य के प्रति हम आश्वस्त हैं, क्योंकि ऊपर लिखी एवं अन्य दिशाओं में बहुत कार्य शेष है और उसके लिए अपेक्षित सहयोग हमें दुर्लभ नहीं है।

प्रेमलता शर्मा

EDITOR'S NOTE

The strong wave of rejuvenation, reassessment and reinstallation of *Dhrupad* that came up in 1975 has culminated in the form of the *Dhrupad Annual* 1986, exactly eleven years later. This has opened up a new dimension in the study or understanding of *Dhrupad.* The directions in which studies have been initiated need to be reviewed now.

1. Studies based on Song-texts

In the first number Dr. Subhadra Chaudhary and in the present second number Dr. Francoise Delvoye "Nalini" have presented in their papers an account of the work done in this direction and the latter has also indicated the scope and methodology for future work.

2. The definition and nature of Dhrupad

The definition of *Dhrupad* occurs for the first time in Bhāva Bhaṭṭa's texts. In the first number the paper of Shri Adinath Upadhyaya gives an account of these texts. In the present number Dr. Mukund Lath has raised serious questions regarding the nature of musical style in the context of *Dhrupad* and has tried to identify the distinctive style of *Dhrupad.* There is scope for further discussion and studies in this direction.

3. The different streams or traditions of Dhrupad

In the first number we presented descriptive articles on the Dagar and Darbhanga traditions. Today these are the two main traditions, besides the temple tradition. But there have been stray performers of *Dhrupad* in Orissa and Chhattisgarh and we propose to bring out informative articles on them. In Uttar Pradesh there have been a number of *Dhrupad* singers who have preserved *Dhrupad* compositions in rare *Tālas.* We propose to publish results of researches in this tradition. There have been other centres of *Dhrupad* like Datiya and Teekamgarh in Bundelkhand which deserve our attention. The tradition of *Sopanam* music in Kerala is believed by some scholars to have some affinity or similarity with *Dhrupad.* This hypothesis needs to be examined and is very much a part of our future scheme of work.

4. The presentation of Dhrupad style on Stringed Instruments

We have included an elaborate article on this topic by Shri Bimalendu Mukherjee in the first number and we hope to present more material on this aspect.

5. The relationship of Dhrupad with Dance

A paper of Dr. Harihar Niwas Dwivedi was published in the first number. In the present number an article by Dr. Prem Lata Sharma discusses the subject.

6. Bibliography

We have made a very effective beginning on this front in the first number. The present number presents up-to-date information. Now we have initiated a column on discography and the present information will be supplemented in future numbers.

7. Analysis of the structure of Dhrupad

In the present number Dr. Prem Lata Sharma's paper on *Dhruva* in *Dhrupad* and another paper on Signature of Composer or Patron and the problems arising in that context make a humble beginning.

8. General

The place of *Dhrupad* in contemporary musical setting has been discussed in a paper by Dr. (Smt.) Sumati Mutatkar in the present number.

9. The results or effects of Dhrupad Festivals

The various types of *Dhrupad* Festivals that have been organised in the last 12 years have given rise to serious and broad-based developments. A review or assessment of these developments would be in the interest of history. These developments are both concrete and subtle and their critical account would be history by itself. By way of illustration, a brief account of a few facts or developments is presented below,

(a) The melodic component for *Dhrupad* has beed traditionally provided on the *Rudra Vīṇā* but that is too rare today. Some singers, therefore, present their music with the drone of the Tanpura alone. But those who wanted melodic accompaniment could avail only of the Harmonium. Being perturbed by this incongruous accompaniment, the writer of this note introduced *Sarangi* for accompaniment to *Dhrupad* in the Dhrupad Festival organised in Vrindavan in 1979. It is not known to the present writer if *Sarangi* was ever used as an instrument for accompaniment with *Dhrupad*. The introduction of *Sarangi* was not inspired by an acceptance of its suitability to *Dhrupad*, but it was simply the exigency of replacing the Harmonium which determined this choice, in absence of any alternative. The accompaniment with *Dhrupad* was a challenge for *Sarangi*, specially in the *jod* portion. How *Sarangi* has met this challenge or is meeting it is a subject for special independent study. But it is a fact that after 1979 *Sarangi* has made a place for itself in various Dhrupad Festivals. The relevant point here is that the historical fact that *Sarangi* entered the realm of *Dhrupad* on

account of an exigency should be recorded since it is a historical event. Prior to this *Sarangi* had no relation whatsoever with *Dhrupad*. If information on the point as to when and how *Sarangi* introduced in the domain of *Dhrupad* is not recorded properly, many misunderstandings could come up in future.

(b) Mainly two types of Dhrupad Festivals have been organised during the past years. One type was a mixed one in which performers of the various traditions available were presented on one stage. And most of the festivals belonged to this type. The second type is that in which festivals were centred around one tradition. The Dagar Saptak organised in Bhopal in 1982 and in Calcutta in 1983 and the very recent Mandir Dhrupad Festival in Jabalpur (January 1987) are examples of this type. They were devoted to one tradition alone. The effects of festivals of these two types are distinct in themselves. When performances of different traditions are presented on one stage, they are exposed to the characteristic features of the tradition or traditions other than their own and consequently they imbibe or initiate new trends in their performances in order to gain prestige in the assembly of musicians including those from other traditions. Without naming any tradition it could be said that out of the three main traditions available today one emphasizes *Svara*, another specializes in *Tāla* and still another treats *Pada* (Text) as the most effective component. When musicians of these three traditions come together on a common stage, those who traditionally specialize in *Svara* tend to create a little more variety in *Tāla*, those specializing in *Tāla* became more sensitive to *Svara* and those emphasizing *Pada* tend to create a little more variety in *Svara* and *Tāla*. This mutual influence at a very subtle level is the contribution of these festivals. When performers of one and the same tradition come on a common stage, there is a definite toning up of their mutual regard and good-will. Even in mixed festivals, members of one tradition have been seen to lend a co-operative hand to one another. As an illustration, the accompaniment of *Rudra Vīṇā* with Vocal Music in the Dagar tradition could be cited. The writer of this note has been a witness to these subtle influences and hence they are briefly recorded here.

(c) Another new tendency that is becoming prominent these days deserves attention here. But it could not be said that this tendency was the result of Dhrupad festivals. It is like this. In oral tradition it has been often said that traditionally a full-fledged performance in the *Dhrupad* tradition would start with *Ālāpa* in a given *Rāga* and *Dhrupad* composition in the same *Rāga* and only after that *Dhamār* was supposed to be presented. Even if the *Rāga* of the *Dhamār* happened to be different from that of *Dhrupad*, no elaborate *Ālāpa* was presented before the Dhamar composition. Moreover

the improvisation known as *Upaj*(tonal-rhythmic variations) was prescribed only in *Dhamār* and for *Dhrupad* a pure and simple, but elegant rendering of the composition itself was prescribed. But now-a-days one hears performances where a *Dhamār* composition is taken up after an elaborate *Ālāpa* in the first *Rāga* itself· And similarly improvisation is done in the *Dhrupad* composition also to the same extent as is done in *Dhamār*. Thus, the distinctive styles of *Dhrupad* and *Dhamār* are merging into one and their mutual distinction is being virtually lost. It is pertinent to go into the reasons of this development. But here it is sufficient to record the facts.

We are very hopeful and assured about a glorious future of the Dhrupad Annual because a lot of work remains to be done in the above directions and the necessary facilities and cooperation are forthcoming.

Premlata Sharma

ध्रुपद वार्षिकी अंक १ में प्रकाशित "ध्रुपद गायन की दरभंगा परंपरा" शीर्षक लेख का परिशिष्ट :

(श्री अभय नारायण मल्लिक की सूचनानुसार)

पृ० ३९ पंक्ति ४ —धर्मपाल से पहले गजराज और बाद में लोचन का नाम जोड़ लें।

पृ० ३६ पंक्ति ७ —देवकीनंदन पाठक (पखावजी) के बाद यदु मल्लिक (सितार) और रामेश्वर पाठक (सितार) के नाम जोड़ लें।

पृ० ४० के सामने का वंश-वृक्ष—धर्मपाल से ऊपर (विस्मृत) के स्थान पर गजराज रखें और धर्मपाल के नीचे लोचन रखें।

(संपादिका)

Addendum to the Hindi article on the Darbhanga Tradition of Dhrupad published in Dhrupad Annual No. 1 (pp. 36-40)

(According to the information given by Shri Abhaya Narain Mallik).

P. 39. Add the name Gajraj before Dharmapal and Lochan after Dharmapal.

P. 39. Line. 6. Add the names Yadu Mallik (Sitar) and Rameshwar Pathak (Sitar) after Dewaki Nandan Pathak (Pakhawaji).

Chart facing p. 40. Replace Vismrta (forgotten) with Gajraj before Dharmapal and add Lochan after Dharmapal.

(Editor)

DHRUPADA-SOME VIGNETTES

Sumati Mutatkar

I. Dhrupada-Khayāl Kinship

Learned, respected musicians of the older generations have had this to say in this regard—'The Khayāl is initially based on the foundation and gravity of the dhrupada. It is therefore natural that the affinity between the two should be noticeable'.

'It is through *dhrupada* that rules and character or the *rāgas* are transfered to *khayāl*. On this basis, through all the stages of elaboration the *rāga* is maintained'.

There is an interesting side-light to the *dhrupada-khayā*l kinship. *Bānī* is a term specifically related to *dhrupada* denoting stylistic peculiarities. The *dhrupada-dhamāra* heritage of the *Āgrā Gharānā* represented the *Nauhār bānī*. Ustad Vilayat Hussain Khan expressly asserted that elements of their *bānī* (*Nauhār*) were transferred to the complexion of their *khayāl*. Indirectly therefore, he inferred, their *khayāl* too belongs to the *Nauhār bānī*. Similarly, according to information personally given by Ustad Allādiā Khan to Pandit Govind Rao Tembe, Allādiyā Khan belonged to a *Dagur bānī dhrupada* tradition and the elements of *Dagur bānı* entered into the style of khayal evolved by him. In this way the idea of *bānī* got linked up with*khayāl*.

II. Contemporary relevance

Till the early decades of this century, the importance of knowledge and an initial training in *dhrupada-dhamāra* not only for the vocalists but for the instrumentalists as well, was fully realised. For instance, instrumentalists like Ustad Allauddin Khan, Hafiz Ali Khan, Ashiq Ali Khan, Dabir Khan, Shri B. K. Roy Chaudhuri all representatives of great traditions, had in their possession a large repertoire of *dhrupada-dhamāra* compositions. These for them, they declared, were authenticated, epitomised base for their *rāga* elaborations. They imparted to their illustrious pupils this secret of their command over the *rāga* forms. Their disciples, the senior, renowned musicians of today, proudly assert that they rely for their *rāga*-forms and their *ālāp* overture on Sitar or Sarod, on the *Bīna* model with a *dhrupada* base. Renowned percussionists like Pandit Govindrao Burhanpurkar, Sakh ram Ji, Ambadas Ji, Ayodhyā Prasad Ji—depended, for an insight and propriety in their art of providing accompaniment to singers and bina-kars, on the structure and rhythmic pattern of their *dhrupada-dhamāra* stock which formed part of their training.

Pandit Bhatkhande, the genius and visionary that he was, realised the supreme importance of the oral traditions of *dhrupada-dhamāra* followed by its successor the *dhrupada*-based *khayāl* to Hindustani Classical Music. He learnt a large number of *dhrupada-dhamāra* songs in different *rāgas* from worthy exponents and made a comprehensive collection. On the basis of a detailed scrutiny and analysis of the *rāga* structure embodied in these mainly and also of the *khayāl* versions collected from well-known *Gharānā* representatives, he based his theory and descriptions of *rāgas*, thus constructing a grammar and a system for Hindustani Music handed down by tradition and in practice in the 20th century. The vast body of valued literature created by Bhatkhande has provided a firm, broad base, a starting point for further development of Hindustani Music and musicology—with reinforcements and refutations, additions and deletions, alterations and controversies and so on.

This is an impressive, a highly honoured roll call, relating to the importance of Dhrupada. Why then, should the dhrupada idea be almost banished from Hindustani Music? Till only a few decades ago, the *dhrupada* essence was a value, a strengthening base for the *khyāl*. Has this value, this relevance, suddenly ceased to exist? If not, would it not be worth reviving this relevance?

The impoverishment and superficiality in respect of *rāga* understanding and stylistic depth and coherence, notwithstanding the increased facility and dexterity especially in fast movements, noticed amongst the young, upcoming generation of musicians, indicates that something, perhaps the essence of a commanding form, is receding into oblivion. Does this negative phenomenon have something to do with the elimination of the *dhrupada* link? These are pertinent questions which need to be probed into.

It may be pointedly mentioned in this connection that accepting the possibility of a revival of the *dhrupada* link need not be deemed as a backward clock-winding or creating a deadlock, precluding new creations. On the contrary, acquaintance with the essence of this background should provide a continuum and a stronger foundation for the creators of new melodies wanting to explore new avenues.

With a growing interest in the *dhrupada* form, and with ever-increasing opportunities for its performance on the radio, the concert platform, conferences and festivals both at home and abroad, the *dhrupada* complex presents a happy, satisfying panorama. It is to the credit of the votaries and exponents of the *dhrupada* that against a climate of apathy, they have continued their pursuit with conviction and devotion. With the tide changing in their favour, they are not lagging behind in projecting the deeper-groved, austere grandeur of the *dhrupada* form.

However, there is need to ask some vexing questions. Is, for instance the *ālāpa* preceding the composition tending to become too long-drawn-out and excessively analytic, sometimes failing to sustain the interest of even responsive audiences and at times eroding the integrated character of the *rāga* ? Are all *rāgas* suited to a systematised straight-jacketed tone by tone elaboration ? Should not the character, range, complexity of a *rāga* be a valid consideration too, while choosing the mode aud extent of elaboration ? Is not there any practical wisdom in the old saying current among the musicians that the *rāga* remains a rāga only as long as it sustains interest ?

In the treatment of *dhrupada-dhamāra*, what are the possibilities for improvement in respect of the blending of the verbal and tonal content and rhythmic variations and patterns ? It it proper to ignore the melodic aspect during the rhythmic gymnastics ? Should not there be a difference between the treatment of *dhrupada* and *dhamāra* ?

The grand old Pakhāwaja is the percussion instrument prescribed for *dhrupada* accompaniment. There is a rich lore in the pakhāwaja language, of innumerable varieties of *parans*, *chakradara*, *farmaishi*, *tihais* and so on. Most of these are for solo performance. When it comes to accompanying a *dhrupada* performance, does it not become imperative for the pakhawajist to equip himself with a tone that is melodic and yet intense to provide appropriate support for the singing without overshadowing the voice along with techniques and syllabic arrangements specially cengenial for accompaniment? Should he not consciously strive to revive the principles of good accompaniment, cultivating an alertness of mind to cope with any musical situation during a performance ?

The dynamics of Hindustani Music has been throwing up new forms, new modes, new styles. One must go along with one's own times, belong to the epoch. But, at the same time, let us not relegate to darkness the works of the masters who were our models. A discerning, respectful interest in.these should open up rewarding avenues of musical grandeur and delight in that which is old, an 'old' that is often newer than the 'new'.

ध्रुपद : कुछ लघु शब्द-चित्र

प्रोफेसर सुमति मुटाटकर

(सम्पादिका-कृत सार-संक्षेप)

1—ध्रुपद, ख्याल का सम्बन्ध :

पिछली पीढ़ी के सम्मानित संगीतकार कहा करते थे कि ख्याल ध्रुपद की नींव पर ही खड़ा है और राग-स्वरूप तथा राग-नियम के लिए ध्रुपद ही प्रमाण है। ध्रुपद-ख्याल के परस्पर सम्बन्ध का एक और रोचक पहलू यह है कि ख्याल की कुछ परम्पराएँ ध्रुपद की बानी के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ती रही हैं। आगरा घराना अपनी ध्रुपद-धमार परम्परा को नौहार बानी का प्रतिनिधि मानता है। उस्ताद विलायत खां कहा करते थे कि नौहार बानी उनके घराने के ख्याल में भी अनुप्रविष्ट थी। अल्लादिया खां भी कहा करते थे कि उनकी ख्याल शैली में डागुर बानी के तत्त्व हैं। इस प्रकार ध्रुपद की बानी का ख्याल के साथ संश्लेष मौखिक परंपरा में दिखाई देता है।

2—समसामयिक प्रासंगिकता :

इस शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में गायक-वादकों के शिक्षण में ध्रुपद-धमार की प्रारंभिक शिक्षा का महत्त्व भली-भांति स्वीकृत था। उदाहरण के लिए—उस्ताद अलाउद्दीन खां, हाफ़िज़अली खां, आशिक अली खां, दबीर खां, वीरेन्द्रकिशोर राय चौधरी जैसे वादकों के संग्रह में ध्रुपद-धमार की बंदिशों का बहुत बड़ा स्थान था। वे कहते थे कि राग-विस्तार में ये बन्दिशें ही उनके लिए सूत्र का काम करती थीं। आज भी सितार या सरोद पर बीन के आदर्श का अनुसरण होता है, जिसका आधार ध्रुपद ही है। पं० गोविन्दराव बुरहानपुरकर, सखाराम जी, अम्बादास जी, अयोध्याप्रसादजी जैसे विख्यात पखावज-वादक गायकों और वीणा-वादकों की संगत करते समय अपने ध्रुपद-धमार संग्रह का सहारा लेते थे।

पं० भातखंडे ने भी यह भली-भांति स्वीकार किया था कि ख्याल का आधार ध्रुपद-धमार ही है। इसीलिए उन्होंने ध्रुपद-धमार का विशाल संग्रह एकत्र किया व रागों के स्वरूप-निर्धारण में इन बन्दिशों के विश्लेषण का सहारा लिया।

जिस ध्रुपद को ख्याल का आधार माना जाता था, उसकी प्रासंगिकता एकाएक लुप्त कैसे हो गई ? रागरूप की समझ में शिथिलता या सतहीपन, द्रुत गति के प्रति विशेष मोह, गंभीरता और सुसम्बद्धता का ह्रास—इन सब अवांछनीय तत्त्वों का कुछ सम्बन्ध क्या ध्रुपद से संबंध-विच्छेद के साथ हो सकता है ? इस सम्बन्ध की पुनः स्थापना को पश्चाद्-गामी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे तो वास्तव में नवीन उद्भावनाओं के लिए दृढ़तर आधार मिल सकता है।

अब ध्रुपद के प्रति पुनः रुचि जागृत हो रही है। आकाशवाणी, महफिल, संगीत परिषद एवं संगीत समारोह के माध्यम से ध्रुपद के प्रयोग के द्वार खुल रहे हैं। ध्रुपद के पोषण और संरक्षण की बात अब उठ रही है और उसके प्रति अरुचि समाप्त हो रही है। इसका श्रेय ध्रुपद के उन साधकों को जाता है जिन्होंने घोर उपेक्षा को सहते हुए अपनी साधना निष्ठा-पूर्वक जारी रखा।

पुनर्जागरण के इस प्रसंग में कुछ प्रश्न उठाना आवश्यक है :—

(i) कहीं ऐसा तो नहीं है कि बंदिश से पहले जो आलाप किया जाता है, वह अत्यधिक लम्बा होता जा रहा हो, जिससे श्रोताओं का ध्यान टिका रहने में कठिनाई होती हो अथवा कभी-कभी राग के सुसम्बद्ध रूप में कुछ क्षीणता आती हो।

(ii) क्या सभी राग एक ही पद्धति से विस्तार के लिए अनुकूल होते हैं ? क्या पुराने गुणियों को इस उक्ति में कोई सार है कि कोई राग तभी तक 'राग' बना रह सकता है जब तक उसके प्रति श्रोता की रुचि स्थिर रह सके ?

(iii) पद, स्वर और ताल के संश्लिष्ट वैचित्र्य के सर्जन की कोई नई सम्भावनाएँ हैं या नहीं ? क्या ताल के वैचित्र्य के निर्माण में स्वर की उपेक्षा की जा सकती है ?

(iv) ध्रुपद और धमार की प्रस्तुति में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए क्या ?

(v) पखावज के एकल वादन के लिए जो परन, तिहाई आदि निबद्ध हैं, उनका संगत के समय यथावत् प्रयोग क्या उचित है ? क्या यह विचारणीय नहीं है कि संगत के समय पखावज का नाद मधुर हो और गायक के कण्ठ को ढक लेने के स्थान पर सहारा दे ?

हिन्दुस्तानी संगीत की गतिशीलता, नए रूपों, नई विधाओं और नई शैलियों को जन्म देती रही है। समय के साथ हमें चलना ही चाहिए, किन्तु साथ ही जो गुणी हमारे आदश रहे हैं, उनके कृतित्व को हमें भुलाना नहीं चाहिए। विवेक और सम्मान से उन गुणियों की सर्जनशीलता को हम समझेंगे तो जो पुरातन है, उसी में से हमें नवीनतम की उपलब्धि हो सकती है।

ध्रुपद का इतिहास : एक नई दृष्टि का आग्रह

डॉ० मुकुन्द लाठ

आज के हिन्दुस्तानी संगीत में शैली-भेद का महत्त्व

आज प्रायः मान-सा लिया गया है कि प्रबन्ध से—सूड प्रबन्ध से—ध्रुपद निकला और फिर ध्रुपद से ख्याल। इस इतिहास-क्रम में दो जन्य-जनक सम्बन्ध हैं, प्रबन्ध का ध्रुपद से और फिर ध्रुपद का ख्याल से। दोनों जन्य-जनक सम्बन्धों को एक-सा ही मान लिया जाता है—इनके अन्तर की चर्चा नहीं की जाती। मैं यहाँ इनके अन्तर की चर्चा करना चाहूँगा।

ध्रुपद और ख्याल का भेद शैली का भेद है। हम किसी ध्रुपद को ख्याल में ढाल सकते हैं, ढालते भी हैं। गवैये इस प्रक्रिया के लिये कहते हैं कि ध्रुपद अंग को ख्याल अंग में ढाल लिया। यह प्रक्रिया अक्सर देखने में आती है। अल्लादिया खां का जयपुर घराना इसी प्रक्रिया से चला बताया जाता है। ख्याल के जन्म के पीछे भी ऐसी ही प्रक्रिया की कल्पना की जाती है। परम्परा है कि मोहम्मद शाह के समय नेमतखां सदारंग ने ध्रुपद को ही तोड़कर ख्याल का लोच दे दिया था। शैली के इस भेद को हम गाने में ही नहीं बजाने में भी सुन सकते हैं। हम ध्रुपद और ख्याल अंग की गायकी में ही चर्चा नहीं करते, ध्रुपद और ख्याल "बाज" की चर्चा भी करते हैं।

आज के हमारे सारे शास्त्रीय गाने बजाने में ध्रुपद ख्याल इन दो अंगों का भेद शैली के भेद पर ही टिका हुआ है : ध्रुपद और ख्याल ही नहीं ठुमरी और टप्पा में भी जो सारगत भेद है उसे गाया और बजाया दोनों जा सकता है और भेद प्रधानतः शैली का है।

शैली का महत्त्व

शैली से मेरा क्या आशय है इसको समझाने के लिये मैं दो संज्ञाओं का प्रयोग करूँगा : निर्मिति और तत्व। संज्ञायें कुन्तक की हैं जिन्होंने साहित्य के सन्दर्भ में इनका प्रयोग किया था। मैं इन्हें संगीत में भी सार्थक और विवेचन के लिये उपयोगी समझता हूँ।

पहले निर्मिति को लें—"निर्मिति" शब्द साधारण प्रयोग का भी है, पारिभाषिक ही नहीं। इसका अर्थ है "निर्माण का भाव या प्रकार" "गठन" या "बनाव"। और मैं इसी अर्थ में इसका प्रयोग करूँगा। पर इतना ही कह देना शायद काफी नहीं है। मेरे आशय के पीछे आचार्य कुन्तक की जो छाया है उसको सामने लाने में मैं समझता हूं मेरा संकेत और स्पष्ट होगा।

अपने "वक्रोक्तिजीवितम्" के आरम्भ में कुन्तक साहित्य को "द्वितय" बताते हैं। कहते हैं कि साहित्य के स्वरूप को दो भागों में बांटा जा सकता है : तत्व और निर्मिति-तद्द्वितयमप्येतत्तत्त्व-निर्मितिलक्षणम्।[1]

साहित्य का माध्यम शब्द है और शब्द के ध्वनि या नाद,[2] नाद और अर्थ, ये दो हिस्से स्पष्ट हैं और मूलग्राही हैं। ध्वनि और अर्थ का भेद गहरा है। और भेद की प्रतीति आयास-साध्य नहीं, सहज स्वाभाविक है। ध्वनि अथवा अक्षर-समूह वस्तु-स्वरूप हैं, प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं जबकि अर्थ बोध-स्वरूप है और उसका ग्रहण संकेतग्राह्य है। एक जड़रूप है, दूसरा ज्ञानरूप। अन्तर स्पष्टतः मौलिक है।

संगीत का माध्यम ध्वनिसमूह मात्र है। वहाँ हमें शब्द और अर्थ जैसी या निर्मिति और तत्त्व जैसी किसी युगल, फिर भी युगनद्ध, स्वरूप की प्रतीति नहीं होती। फलतः संगीत केवल निर्मिति है। साहित्य में शब्द और अर्थ, निर्मिति और तत्त्व, दोनों मिलकर भाव अथवा रस का उद्‌बोधन कराते हैं। संगीत में ध्वनि—या चाहें तो नाद कह लीजिये—इसी ध्वनि या नाद का विन्यास मात्र भाव जगाता है।

यहाँ आगे बढ़ने से पहले एक छोटी सी बात और कह दूँ। गाने में अक्सर शब्दों का प्रयोग होता है और इस कारण भ्रान्ति हो सकती है कि संगीत के भी ध्वनि और अर्थ—ये दो प्रधान अंग हैं। पर याद रखने की बात है कि संगीत में शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं, अवान्तर है। शब्द वहाँ आगन्तुक है, न भी आये तो संगीत संगीत रह जाता है। यहाँ एक आम धारणा है कि सुन्दर शब्द के होने से संगीत का प्रभाव बढ़ जाता है, उसमें चार चाँद लग जाता है। पर यह एक अलग समस्या है। शब्द से संगीत निखरता है या नहीं मैं इस विवाद में यहाँ नहीं पड़ना चाहता और इस उलझन का प्रस्तुत चर्चा से कोई लगाव भी नहीं। मेरे लिये इतना बहुत है कि संगीत की सत्ता को शब्द पर निर्भर नहीं माना जाये और यह सबको स्वीकार्य है कि शब्द के बिना भी संगीत होता है, गाने में न सही बजाने में तो होता ही है। राग-रागिनी जो हमारे संगीत के प्रधान विषय हैं, उनके स्वरूप में शब्द का कोई अनिवार्य समावेश नहीं है : राग लक्षण में वादी, संवादी, आरोही, अवरोही, औडव, षाडव, संपूर्ण, जैसे लक्षणों के साथ ऐसा कोई अनिवार्य आदेश नहीं होता कि अमुक राग को अमुक शब्दों में ही गाना चाहिये। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि राग का गाना ही आवश्यक नहीं, उसको बजाया भी जा सकता है।

यह भी लक्षणीय है कि संगीत में शैली का भेद शब्द के भेद पर निर्भर नहीं : उसी ध्रुपद को, शब्द बिना बदले भी ख्याल की शैली में गाया जा सकता है।

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेष, वृत्ति का पांचवां श्लोक। मेरे आशय के पीछे कुन्तक की छाया मात्र है, उनकी धारणाओं का अनुवाद नहीं।

२. या शब्द लिखा हुआ हो तो लिपि का रूपविशेष।

मैंने अभी कहा कि संगीत में तत्व और निर्मिति जैसा कोई मूलगत भेद हम नहीं कर सकते, जैसा कि साहित्य में शब्द के प्रयोग के कारण सहज ही संभव है। फिर भी ऐसा एक भेद अगर हम बना लें तो ध्रुपद ख्याल जैसी संगीत की भिन्न विधाओं को—या गाने-बजाने की भाषा में कहे तो "अंगों" को—समझने का एक आधार मिल जायेगा। संगीत में हम शब्द और अर्थ के भेद की तरह राग और उसके निर्वाह के प्रकार में, जिसको हम राग की "बरत" या चलन कहते हैं उसमें, एक मूलस्पर्शी सार्थक भेद की अवधारणा कर सकते हैं। राग और "बरत"—जैसा कि ध्रुपद अंग, ख्याल अंग, ठुमरी अंग जैसे प्रयोगों में उभर कर आता है........दोनों ही ध्वनिरूप हैं, नादात्मक है, शब्द और अर्थ की तरह एक ध्वनि-रूप और दूसरा अर्थ-बोध रूप नहीं है। ध्रुपद अंग, ख्याल अंग और ठुमरी अंग को बजाया भी जा सकता है। फिर भी राग और उसकी बरत में एक बड़ा पार्थक्य है। कुछ कुछ वैसा ही पार्थक्य है जैसा कि शब्द और अर्थ में : एक ही अर्थ का जैसे भिन्न शब्दों द्वारा संकेत हो सकता है वैसे ही एक ही राग को ध्रुपद ख्याल जैसे भिन्न अंगों या साँचों में ढाला जा सकता है। हम राग को तत्त्व कह सकते हैं, ध्रुपद ख्याल को निर्मितियाँ। राग एक सम्भावना मात्र होता है। उसका रूप नहीं होता। कुछ विधि-निषेधों में उसको आंका जाता है। ध्रुपद ख्याल जैसी निर्मितियाँ ही उसको रूप देती हैं।

इसलिए हम पाते हैं कि राग की और ध्रुपद ख्याल की चर्चा करते समय हम दो भिन्न पदार्थों की चर्चा करते हैं। दोनों के अवयव बताने में हम अलग-अलग बातों को सामने लाते हैं। राग को चर्चा करते हुए "हम थाट, आरोह, अवरोह, वादो, संवादी, न्यास, उठाव, वक्र या अवक्र, ऐसे "लक्षणों" की चर्चा करते हैं जो विधि-विधान परक है। ध्रुपद या ख्याल का स्वरूप बताने के लिये हम और ही चीजों का नाम लेते हैं : आलाप, स्थायी, अन्तरा, संचारो; ये ही राग को रूप देते हैं। इन्हीं में राग का विस्तार होता है। मैं समझता हूँ कि अगर हम एक को तत्व और दूसरे को निर्मिति कहें तो ये संज्ञायें विवेचना के लिये उपयोगी ठहर सकती हैं। यों तो राग को धुन जैसे छोटे से रूप में भी पहचाना जा सकता है, पर राग का पूर्णांग पूर्ण-वैभव स्वरूप ध्रुपद और ख्याल के "विस्तार" में ही उभरता है। राग लक्षण का जैसे एक लम्बा इतिहास है, जो सदियों पुराने जातिगान तक पहुँचता है, वैसे ही ध्रुपद और ख्याल का जिस रूप में हम विस्तार या फैलाव करते हैं उसका भी उतना ही पुराना इतिहास है जिसको हम सप्तरूप या गीतक तक ले जा सकते हैं। प्रबन्ध जिससे ध्रुपद निकला, उसका सप्तरूप से कोई जन्यजनक सम्बन्ध रहा होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है। हालांकि इस सम्बन्ध का ब्यौरा इतिहास के गर्भ में ही छुपा है।

मैंने कहा कि ख्याल और ध्रुपद दोनों के फैलाव में आलाप, स्थायी, अन्तरा, संचारी, आभोग जैसे अवयवों का समावेश होता है। पर यहाँ एक प्रश्न उठता है : ख्याल में संचारी और आभोग जैसे अवयव होते हो कहाँ हैं ? आलाप को हम अक्सर राग विस्तार का पहला अवयव समझते हैं, ध्रुपद में वह अनिबद्ध ही सुनने में आता है, ख्याल में वह अनिबद्ध होना आवश्यक नहीं। वह विलम्बित ख्याल के स्थायी और

अन्तरा के अन्तर्गत भी आ सकता है और आजकल तो ऐसा ही अधिक सुनने में आता है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ध्रुपद और ख्याल दोनों के फैलाव या विस्तार के अवयव एक से हैं ?

मानना ही होगा कि ध्रुपद और ख्याल को जिन अवयवों के साँचे में अक्सर ढाला जाता है उनमें भेद है। ख्याल में संचारी आभोग नहीं होते और उसका आलाप अक्सर निबद्ध के अन्तर्भुक्त होता है। दोनों की निर्मिति में इस स्तर पर एक स्पष्ट भेद है। पर यहाँ हम एक प्रतिप्रश्न उठायें तो बात और गहराई में पैठेगी। निर्मिति की एक और भूमि से परिचय होगा, जहाँ जाकर ध्रुपद और ख्याल के भेद की जड़ पकड़ में आयेगी और मैं जिसको शैली कह रहा हूं उसको सुराग मिलेगा। प्रतिप्रश्न यह है : क्या ख्याल में आलाप का अनिबद्ध प्रयोग करें और उसमें संचारी और आभोग ये दो अवयव जोड़ दें—जैसा कि देखा भी जाता है और नहीं तो आसानी से करके दिखाया जा सकता है—तो भी क्या ख्याल और ध्रुपद में अन्तर नहीं होगा ? कहना नहीं पड़ेगा कि अन्तर फिर भी होगा ही। और इस अन्तर को समझने के लिये राग को फैलाने के लिये जिन अवयवों का प्रयोग होता है—आलाप, स्थायी, अन्तरा आदि—अपने विवेक की सीमा को केवल वहीं तक बाँधने से काम नहीं चलेगा। विवेचना को और सूक्ष्मदर्शी बनाना होगा। चलन की बारीकियों में जाना होगा। विन्यास की और छोटी इकाईयों को लेना पड़ेगा, जैसे स्वरों का लगाव, गुंथाव, एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाने के प्रकार, अलंकार—ऐसे घटकों के आधार पर ही वास्तव में ख्याल और ध्रुपद का अन्तर समझ में आता है। जब हम ख्याल अंग और ध्रुपद अंग के भेद की बात करते हैं, तब ऐसे ही घटकों की बात करते हैं। इसी आधार पर हम ध्रुपद को ख्याल में ढाल लेने की बात करते हैं। हम कहते है कि अमुक ख्यालिये ने ध्रुपद की पुरानी बंदिश ली और उसे ख्याल में बदल लिया। अर्थ केवल इतना ही नहीं होता कि गाने वाले ने संचारी और आभोग को छोड़ दिया। ऐसा तो ध्रुपद गाते समय कोई ध्रुपदिया भी कर सकता है। कुछ ध्रुपदिये ऐसा करते देखे भी जाते हैं। नहीं भी करते हों तो कर सकते हैं। ध्रुपद को ख्याल में ढाल लेने का वास्तव में अर्थ होता है स्वर के लगाव में और संचालन में परिवर्तन, अलंकारों के स्वरूप में परिवर्तन, एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाने के ढंग में परिवर्तन। पुरानी परिभाषा में कहें तो हम इसे "स्थाय" का परिवर्तन कह सकते हैं—"स्थाय" का अगर उस अर्थ में प्रयोग करें जिस अर्थ में शार्ङ्गदेव ने किया है।

हमारे गाने-बजाने में एक स्वर के साथ, दूसरे स्वर या स्वरों की छाया बराबर लगी रहती है। इसके लिये पुरानी संज्ञा थी गमक। यह छाया कई तरह से लग सकती है इसलिये गमक के कई भेद हैं। गमक गाने-बजाने की छोटी से छोटी इकाई है। पर गमक अपने आप में कोई पूरा फिकरा या पुरानी परिभाषा में कहें तो "विदारी" नहीं बनाती। एक पूरी बिदारी को जो अपने आप में एक स्वतन्त्र अवयव हो सकता है, उसको स्थाय कहा है। शार्ङ्गदेव अपने संगीत-रत्नाकर के प्रकीर्णाध्याय में पहले

गमकों का वर्णन करते हैं फिर उनसे बने स्थायों का। कल्लिनाथ की टिप्पणी यहाँ सटीक है। कहते है : गमकाश्रयत्वेन तदनन्तरमुद्दिष्टानां स्थायानां सामान्यलक्षणमाह "रागस्यावयव" इति। अवयव—एक देश:[1]स्थाय गमक पर।आधारित है इसलिये उनका वर्णन भी गमक के बाद किया गया है। स्थाय के लिये कहा है कि वह राग का अवयव होता है : राग का एक देश—अपने आप में पूरा खण्ड विशेष।[1]

विशेष स्थायों का एक विशेष गुंथाव ही शैली बनकर उभरता है। कुछ स्थायों के ऐसे प्रकार हैं जो खास ध्रुपद के स्थाय हैं जिनसे ध्रुपद अंग बनता है। वैसे ही ख्याल और ठुमरी के भी खास स्थाय हैं जिनसे ख्याल और ठुमरी अंग बनता है। स्थाय के समूह विशेष की संरचना या विन्यास से ही शैली विशेष बनती है। हम स्थाय में परिवर्तन कर दें तो शैली में परिवर्तन हो जायेगा। कुछ शैलियाँ अधिक परिवर्तन सहिष्णु हैं, जैसे ख्याल। कुछ को परिवर्तन से बचाकर रखना पड़ता है—जैसे ध्रुपद। और ध्रुपद ही नहीं ठुमरी टप्पा भी। इन असूर्यंस्पर्शा शैलियों को बन्द दरवाजे में बाहर की धूप से बचा कर संभाल संजोकर रखना पड़ता है। ख्याल अधिक खुला है, दूसरी शैलियों के स्थाय ले लेता है। ध्रुपद ठुमरी टप्पा अधिक संरक्षणशील हैं। फिर भी हरेक के अपने विशेष स्थाय हैं जिनको सुनकर हम पहचानते हैं कि गाना या बजाना ध्रुपद अंग में हो रहा है या ख्याल अंग में या ठुमरी टप्पा में।

एक अंग या शैली को दूसरे में ढाला भी जा सकता है। आज ध्रुपद को ख्याल में ढाल लेने की प्रक्रिया से हमारा अधिक परिचय है। ऐसे ही परिवर्तन को सामने रखते हुए हम ध्रुपद और ख्याल के अन्तर को और दोनों के परस्पर संबंध को आंकते भी हैं। साथ ही हम यह भी मानते हैं कि ऐसी ही कोई प्रक्रिया ख्याल के इतिहास के भी मूल में रही है। ध्रुपद को ही तोड़मरोड़ कर—उसमें स्थाय भेद से "लोच" ला कर—ख्याल बना है। इस तरह ख्याल ध्रुपद का ऋणी है। ध्रुपद से "निकला" है।

शैली और ध्रुपद का आरम्भ

अब प्रश्न उठता है कि क्या ध्रुपद का आरम्भ भी ऐसी ही शैली परिवर्तन की किसी प्रक्रिया से हुआ था? आज मान्यता है कि जो सम्बन्ध ख्याल का ध्रुपद से है वही सम्बन्ध ध्रुपद का एक प्राचीनतर रूप, प्रबन्ध, से था। ध्रुपद प्रबन्ध से "निकला" है। ऐसा मान लिया जाता है कि 'निकलने' की दोनों प्रक्रियायें एक सी थीं। पर इसमें भ्रान्ति लगती है।

प्रबन्ध आज प्रचार में नहीं है। ध्रुपद से उसका सम्बन्ध समझने के लिये प्रत्यक्ष का अवलम्ब नहीं मिल सकता। अनुमान का ही सहारा लेना होगा। प्राचीन संगीतग्रन्थों में प्रबन्ध का जो विवरण मिलता है उसको सामने रखते हुए अनुमान गर्भित कल्पना के आधार पर ही हम ध्रुपद से उसका सम्बन्ध समझ सकते हैं।

---

१. संगीतरत्नाकर, प्रकीर्णाध्याय, श्लोक ९७ और उस पर कल्लिनाथ की टीका। देखिये आड्यार संस्करण।

प्रबन्ध के विषय में परिचय देनेवाला सबसे पुराना ग्रन्थ है मतंग का बृहद्देशी जिसे आठवीं सदी में रक्खा जाता है। प्रबन्ध का प्रचलन तब तक पूरा फैल चुका था, सारे देश में प्रबन्ध गाये जाते थे। १३वीं सदी में शार्ङ्गदेव के समय तक कुछ प्रबन्ध पुराने हो चुके थे और प्रबन्ध के एक नये प्रकार का प्रचलन फैल चुका था जिन्हें सालग सूड प्रबन्ध कहा जाता था। सालग सूड से ही ध्रुपद का जन्म माना जाता है।

प्रबन्धों की संख्या बहुत बड़ी थी। प्रबन्धों में भेद के आधार दो थे। धातु और अंग। अंग का अर्थ वह नहीं था जो 'ध्रुपद अंग', 'ख्याल अंग' जैसे प्रयोग में है। धातु और अंग दोनों ही पारिभाषिक संज्ञायें हैं। धातु का सम्बन्ध प्रबन्ध के उन हिस्सों से था जिनको हमने निर्मिति का फैलाव या विस्तार कहा है : आलाप, स्थायी, अन्तरा आदि। पर आलाप को प्रबन्ध के "धातु" के अन्तर्गत नहीं गिना जाता था। आज जिसको हम बन्दिश कहते हैं, वही प्रबन्ध होता था—ताल में निबद्ध। जैसे बन्दिश के भीतर भी स्वरों की मुक्त कल्पना प्रसूत उपज का प्रयोग होता है, जिसे हम आज भी आलाप कहते हैं वैसा ही प्रबन्ध में भी आलाप होता था जिसको रूपकालप्ति कहते थे। पर प्रबन्धों में जब भेद किया जाता था तो उसका आधार धातु और अंग ही होते थे, आलप्ति या आलाप नहीं। यह बात महत्त्व को है क्योंकि आज ध्रुपद और ख्याल के आलाप में ही दोनों का शैली भेद सबसे ज्यादा उभर कर आता है। दोनों का आलाप भिन्न होता है, चाहे एक में निबद्ध हो और दूसरे में अनिबद्ध। प्रबन्धगान में आलाप के ऐसे किसी व्यापक ध्रुपद ख्याल जैसे शैलीभेद की कल्पना नहीं थी। प्रबन्ध विशेष के साथ आलप्ति के प्रकार विशेष का कोई सम्बन्ध नहीं था। यह सच है कि स्थाय समूह विशेष के विन्यास से आलप्ति को बदला जा सकता था। पर आलप्ति के बदलने पर भी प्रबन्ध वही प्रबन्ध रहता था।

प्रबन्ध भेद के आधार :

शार्ङ्गदेव और अन्य प्रबन्धशास्त्रियों ने चार धातुओं का नाम लिया है : उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग। एक और का नाम आता है—अन्तरा। इसका प्रयोग केवल सूड प्रबन्धों में होता था, जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन प्रबन्ध थे। धातुसमूह या धातुविशेष के प्रयोग या अप्रयोग से प्रबन्धों में भेद किया जाता था।

धातुओं के अलावा प्रबन्ध में छः "अंग" होते थे : स्वर, विरुद, पद, तेनक, पाट और ताल। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनका आज भी बन्दिश गाने में प्रयोग होता है। ताल का वही अर्थ है जो आज होता है। अधिकतर प्रबन्धों को ताल में गाया जाता था। पद का अर्थ है सार्थक शब्द। इनके प्रयोग से भी हम परिचित हैं। स्वर का अर्थ यहाँ सरगम गाने से है। आज भी गाने में इसका प्रयोग होता ही है। तेनक, "तेन तेन" इन निरर्थक अक्षरों के गान को कहते थे। "विरुद," ईश्वर की या राजा की प्रशंसा के लिए प्रयुक्त विशेषण को कहते हैं। "पाट" का अर्थ है "धागे तिट" आदि अवनद्ध वाद्य पर बजने वाले शब्दों के द्योतक वर्ण। प्रबन्ध गाने में तेनक, बिरुद और

पाट का भी प्रयोग किया जाता था। आज कुछ प्रकार की बन्दिशों में ऐसे प्रयोग के अवशेष मिल जाते हैं। "तेन" वर्णों का प्रयोग तो अब नहीं होता पर तराने में निरर्थक वर्णों का प्रयोग होता ही है। साथ ही तराने में मृदङ्ग या तबले के बोल के रूप में "पाट" भी सुनने में आ जाता है। चतुरंग जैसी कुछ कम प्रचलित बन्दिशों में पाट और 'तेन' नुमा वर्णों का प्रयोग और भी स्पष्टतः अलग देखा जा सकता है। 'बिरुद' का गायन अब केवल भजन तक सीमित रह गया है।

यह आवश्यक नहीं था कि हर प्रबन्ध चारों धातुओं और छहों अंगों का प्रयोग करे। धातुओं में उद्ग्राह और ध्रुव का प्रयोग अनिवार्य था, अन्य धातुओं का नहीं। अंगों में भी ऐसा नियम नहीं था कि हरेक प्रबन्ध हरेक अंग का प्रयोग करे। बल्कि प्रबन्ध-भेद इसी बात से होता था कि प्रबन्ध-विशेष में कोई अंग या कोई धातु है या नहीं है।

'धातु' या 'अंग' निर्मिति की उस आधार भूमि तक नहीं जाते जिसको हमने यहां शैली कहा है। प्रबन्ध-भेद में गमक या स्थाय की भूमिका का उल्लेख नहीं के बराबर है। शार्ङ्गदेव और अन्य आचार्यों ने प्रबन्ध के बीसियों भेद गिनाये हैं। पर स्थाय-भेद से प्रबन्ध भेद की चर्चा नहीं की है।

कहीं कहीं ऐसे भेद की चर्चा आ जाती है। पर वह अपवाद ही है: गौडी एला नाम के प्रबन्ध का स्वरूप बताते हुए शार्ङ्गदेव कहते हैं: "गमकप्रासनिर्मुक्ता गौडी त्वेकरसा मता" (संगीत रत्नाकर, प्रबन्धाध्याय, श्लोक १२७) जबकि आंध्री के बारे में कहते हैं: नानाप्रयोगरागांशरसभावोत्कटान्ध्रिका" (वही श्लोक १२८): अर्थात् गौडी में गमक नहीं होते आंध्री में खूब होते हैं।

शार्ङ्गदेव जैसे १२वीं १३वीं सदी के आचार्यों के ग्रन्थों से लगता है कि एक ही प्रबन्ध को शैली-भेद से गाने की प्रथा थी। ऐसा करने से प्रबन्ध-भेद नहीं हो जाता था।[1] आज ध्रुपद में ख्याल के गमक या स्थाय नहीं लाये जा सकते क्योंकि ध्रुपद शैली बनती ही गमक और स्थाय-विशेष के प्रयोग से है। प्रबन्ध की परिकल्पना और ही प्रकार की थी।

---

१. यहाँ शार्ङ्गदेव का विधान ध्यातव्य है। भंजनी नाम की रूपकालप्ति के बारे में कहते हैं:

भञ्जनी द्विविधा ज्ञेया स्थायरूपकभञ्जनात् ॥ १९९ ॥
यदा तत्पदमानेन स्थायो रूपकसंस्थितः।
नानाप्रकारः क्रियते सा ज्ञेया स्थायभञ्जनी ॥ २०० ॥

(संगीतरत्नाकर ३, १९९-२००, अड्यार संस्करण)

यहाँ कल्लिनाथ की टीका हैं: '**तत्पदमानेनेति।** तच्छब्देनात्र प्रकृतत्वाद्रूपकं परामृश्यते। तस्य पदानि विदार्यवान्तरभागाः। तेषां **मानेन** प्रमाणेन, तत्कालविश्रान्ति-युक्तया क्रिययेत्यर्थः। तेन युक्तो रूपकसंस्थितोऽवयवत्वेन प्रबन्धेऽनुप्रविष्टः **स्थायः।** स्थायोऽत्र प्रबन्धैकदेशः। **नाना प्रकारो** विचित्ररीतियुक्तः **क्रियते** गातृवादकप्रतिभा-विशेषेणोद्भाव्यते चेत्, सा स्थायभञ्जनी।" यहाँ हम कह सकते हैं कि स्थाय को

प्रबन्ध के साथ शैली का वैसा सम्बन्ध नहीं था जैसा ध्रुपद ख्याल के साथ है। आज एक ही ध्रुपद या ख्याल शैली के अन्तर्गत कई प्रकार की बन्दिशें हो सकती है, अलग तालों में, अलग छन्दों में, अलग प्रकार के शब्द प्रयोग के साथ या निरर्थक शब्दावली से। पुरानी परिभाषा में ये विभिन्न प्रबन्ध कहे जाते। प्रबन्ध के लिए आज हम अगर उपयुक्त शब्द ढूँढें तो वह शब्द 'बन्दिश' ही होगा। पर पुरानी परिभाषा में ध्रुपद या ख्याल जैसी व्यापक शैली परिकल्पना नहीं थी जो किसी भी प्रबन्ध को अपने रंग में रंग दे जो बजाने में भी उभर कर आये। शैली गमक या स्थाय के विधि-निषेध से बनती है। ध्रुपद में कुछ गमक और स्थाय निहित हैं। कुछ वर्जित हैं। वर्जित के प्रवेश को ध्रुपदिये बड़े यत्न से बचाते हैं। ख्याल के लिए छूट अधिक है, फिर भी कुछ स्थाय ख्याल के खास अंग माने जाते हैं। ख्यालिये ठुमरी से बचने की भी कोशिश करते हैं। शैली भेद प्रबन्ध युग में भी रहा ही होगा पर ध्रुपद ख्याल ठुमरी, टप्पा, जैसी 'व्यापक' अनेक-प्रबन्ध-ग्राही शैली का प्रचार नहीं था, जिसमें भिन्न प्रकार की बन्दिशें बांधी जा सकें। इसलिए प्रबन्ध गान की विधा है। शैली की तरह गानवादन व्यापी विधा नहीं जैसे ध्रुपद ख्याल हैं। जो ६ अंग प्रबन्ध में आवश्यक थे, वादन में उनकी चर्चा सार्थक नहीं।

विचित्ररीतियुक्ता करना उसको बदलना नहीं है। तत्कालीन संगीत से अपरिचय के कारण बात अस्पष्ट ही रह जाती है। पर एक बात स्पष्ट है। स्थाय के भेद से प्रबन्ध भेद की कल्पना शार्ङ्गदेव में नहीं के बराबर है। एक और बात है। शार्ङ्गदेव में 'रूपक प्रबन्ध' इस शीर्षक से पुराने रूपक को नया कैसे किया जाये, इस बात की चर्चा की है। वाग्गेयकारों को कुछ गुर बताये हैं। पुराने रूपक को कई तरह से नया किया जा सकता था एक तरीका था राग को 'नया' कर देना। अर्थ यही नहीं था कि उसी प्रबन्ध में पुराने राग को हटाकर दूसरा नया राग डाल दिया जाये। अर्थ यह भी था कि उसी राग को स्थाय के बदलाव से नया कर दिया जाये :

गुणान्वितं दोषहीनं नवं रूपकमुत्तमम् ॥ ३६१ ॥
रागेण धातुमातुभ्यां तथा काललयौडुवैः।
नूतनै रूपकं नूत्नं रागः स्थायान्तरैर्नवः ॥ ३६२ ॥

(संगीतरत्नाकर ४, ३६१-३६२)

कल्लिनाथ कहते हैं : 'नूतनरागादिनिर्मितत्वाद्रूपकं नवं भवतीत्यर्थः।' पर फिर एक दूसरी सम्भावना को लेते हैं : यहाँ रञ्जनाविशेष के लिए विशेष राग सिद्ध हो गये हों, बँध गये हों वहाँ नयापन कैसे होगा ? कहते हैं स्थायभेद से होगा—"रञ्जनादिधर्मयोगे सिद्धरूपाणां रागादीनां नूतनत्वं कथमित्याकांक्षायामाह—रागः स्थायान्तरैरित्यादि। स्थायां रागस्यावयवाः। अन्ये स्थायाः स्थायान्तराणि। तै रागो नवो भवति। पूर्वैः कृतरूपकगतरागापेक्षयेदानीं क्रियमाणे रूपके स्थायान्तरैर्यथा रागो नवो भवति तथा कर्त्तव्यमित्यर्थः। यहाँ बदलाव में स्थायविशेष का ही प्रयोग हो ऐसा कोई नियम नहीं यथेच्छा नये स्थाय से उसी राग को नया किया जा सकता था। प्रबन्ध नया हो जाता था, उसमें प्रकार भेद नहीं आता था, जैसा कि ध्रुपद को ख्याल बना देने से आ जाता है।

सालगसूड और ध्रुपद :

पुराने प्रबन्धों से नये प्रबन्धों का जन्म हुआ। इनको सालगसूड प्रबन्ध कहते थे। शाङ्र्गदेव के बाद के युग में इन्हीं का प्रचार अधिक था। आज मान्यता है कि इन्हीं से ध्रुपद निकला और ध्रुपद की कड़ी इन्हीं से जुड़ती जान भी पड़ती है। इस बात को लेकर विवाद है कि कौन से सालगसूड प्रबन्ध से ध्रुपद निकला। पर इस विवाद में मैं यहाँ जाना नहीं चाहता। इस विवाद में पड़ जाने से असली गुत्थी हमसे ओझल हो जाती है।

किसी भी सालगसूड से ध्रुपद निकला हो, हमें भूलना नहीं चाहिये कि सालगसूडों का भी वही आधार था जो कि उनसे पूर्वतर सूडों का था। सूड-प्रबन्ध की तरह ही सालगसूड भी धातु और अंग के विन्यास-भेद से ही बने थे। सालगसूडों में एक नये धातु का समावेश सम्भव था जो अन्तरा कहलाता था। शार्ङ्गदेव कहते हैं कि ध्रुव और आभोग नामक धातुओं के बीच में इसका प्रयोग होता था।[1] पर यह कोई गहरा भेद नहीं था। सालगसूड पुराने सूडों से निकले थे, उन्हीं जैसे थे। उन्हीं अंगों और धातुओं को अदल-बदल कर गाये जाते थे। 'सालग' के लिए एक और शब्द था, बड़ा सटीक शब्द-छायालग। छायालग सूड का अर्थ था ऐसे सूड जिनमें पुराने 'शुद्ध' सूडों की 'छाया' हो।

इस छाया का ठीक-ठीक स्वरूप क्या था, आज कहना कठिन है। सालग सूडों का शुद्ध सूडों से कितना भेद था कितना सादृश्य था, इसको आंकने का आधार आज हमारे पास संगीत से प्राचीन ग्रन्थ ही है। ये ग्रन्थ संगीत के रूप-विधान का ऐसा परिचय नहीं देते जो हमारे लिए भेद के स्वरूप को सजीव बना सकें। ये ग्रन्थ प्रबन्ध के प्रयोग का साधारण लक्षण ही बताते हैं, किसी प्रबन्ध के रूप को स्वरलिपि में साकार करके नहीं दिखाते। दिखाते भी तो प्रश्नचिह्न रह ही जाता। शैली को स्वरलिपि में कितना दिखाया जा सकता है ? फिर भी इतना तो प्रकट है कि गायकी या शैली का अन्तर शुद्ध और छायालग के अन्तर का प्राण नहीं था। न ही यह तत्त्व विभिन्न सालगसूडों के अन्तर का आधार था।

ध्रुपद सालगसूड़ों का परिणाम था। शायद उनमें से किसी एक से निकला था। उसमें कैसा नयापन आया होगा ? प्रबन्ध भेद को जो प्रणाली थी उसको देखते हुए यही अनुमान लग सकता है कि वह सालगसूड का वैसा ही रूपान्तर रहा होगा जैसा सालग सूड, शुद्ध के थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ध्रुपद पर सालग सूडों की या सालगसूड विशेष की 'छाया' थी। पर यह सच है तो प्रारम्भिक ध्रुपद

---

१. ध्रुवाभोगान्तरे जातो धातुरन्योऽन्तराभिधयः ॥ ९ ॥
स तु सालगसूडस्थरूपकेष्वेव दृश्यते ।

संगीत रत्नाकर, प्रबन्धाध्याय श्लोक, ९-१०

को हम एक शैली विशेष नहीं मान सकते। प्रबन्ध की कल्पना का आधार जब शैली था ही नहीं तब प्रबन्ध से प्रबन्धान्तर का आधार हम शैली को कैसे मान सकते हैं ?[१]

नई दृष्टि का आग्रह

आज हमारे लिये बड़ा प्रश्न यह नहीं कि ध्रुपद किस सालगसूड से निकला प्रश्न यह उठता है कि आज जिसको हम ध्रुपद कहते हैं, जिस शैली विशेष को हम यह नाम देते हैं, उस ध्रुपद शैली का जन्म कब हुआ ? इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में यों रख सकते हैं : एक समय था जब ध्रुपद प्रबन्ध विशेष था, वह शैली विशेष कब बना ? हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास में यह बड़ा प्रश्न है क्योंकि आज हम ध्रुपद ख्याल, ठुमरी जैसी विधाओं का भेद शैली के आधार पर करते हैं, प्रबन्धों की तरह "धातु" और तेन पाट जैसे ६ "अंगों" के आधार पर नहीं। प्रश्न उठता है कि विधाओं के भेद का यह नया आधार, "शैली", कब उभर कर आया ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये ध्रुपद के इतिहास पर नई दृष्टि से विचार करना होगा। ध्रुपद हमारे हिन्दुस्तानी संगीत की सबसे पुरानी शैली है। हम मानते हैं कि दूसरी शैलियां उसी से निकली हैं। हमें सोचना चाहिये कि यह ध्रुपद अपने आप में शैली कब बना ? अभी तक हम इसी विवाद में उलझे हैं कि किस सालग सूड विशेष से ध्रुपद निकला। इसका उत्तर मिल भी जाये तो भी प्रश्न रह ही जायेगा कि ध्रुपद प्रबन्ध से शैली कब बन गया ? प्राचीन धातु और "तेन" "स्वर" "पाट" जैसे आधारों से हट कर शैली को विधाओं के पार्थक्य का आधार मान लेना संगीत में एक नई बात थी। हिन्दुस्तानी संगीत में ही यह बात खास बात बन कर आई है। मैं समझता हूँ यह एक बहुत बड़ी बात है। क्योंकि शैली के स्तर पर ही संगीत की गहरी से गहरी अभिव्यक्ति होती है। प्रबन्धों का जिस आधार पर अन्तर किया जाता था वे अपेक्षया ऊपरी बातें थी। शैली को वैसी प्रधानता देना जैसा आज हिन्दुस्तानी संगीत में है, यह एक विलक्षण उपलब्धि थी। हमें चाहिये कि हम यह प्रश्न उठायें कि इस उपलब्धि का इतिहास क्या है ? विधाओं को शैली की कसौटी पर परख कर अलग करने की परम्परा कब से चली, कैसे बढ़ी ?

---

१. यहाँ अपने ही विपक्ष में एक बात का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकता। मेरी चेष्टा ऊहापोह की है और अपोह के बिना ऊह को अधूरा समझता हूँ। पार्श्वदेव के **संगीत समय सार** में आलप्ति भेदों का वर्णन है। आलप्तियों के भेद का एक आधार शुद्ध और सालग बताया गया है। इस प्रसंग में शुद्ध और सालग संज्ञायें प्रबन्ध की ओर हो इंगित करती जान पड़ती है। हो सकता है कि पार्श्वदेव ने शुद्ध और सालग, आलप्ति के ये दो मूलभेद इस तात्पर्य से किये हों कि शुद्ध प्रबन्धों में आलप्ति भी शुद्ध होती थी और सालग प्रबन्धों में सालग। आलप्ति के इन भेदों में कुछ कुछ शैली भेद का संकेत उभरता जान पड़ता है (देखिये—आचार्य बृहस्पति सम्पादित **संगीत समय सार**, २,३५-५५) पर पार्श्व देव का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है, न अन्यत्र उसकी पुष्टि मुझे मिली। फिर भी उससे शैली भेद की एक संभावना गूंजती है जिसकी खोज होनी चाहिए।

प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दे पाना कठिन है। हमें शैली के ऐसे पुराने प्रामाणिक नमूने नहीं मिलते जिनसे हम किसी निर्णय पर पहुँच सकें। आज ध्रुपद की जो स्वर-लिपियाँ हैं जो ग्रंथरूप हैं वे अर्वाचीन हैं। उनसे यह ठीक-ठीक पता लगाना सम्भव नहीं कि मूलरूप में गायकी क्या थी। फिर हमारे संगीत में उपज, बढत या कल्पना का इतना शिखर स्थान है कि आज जो पुराने नमूने मिलते हैं उनमें कितना रूपान्तरण हो चुका है इसको मापा नहीं जा सकता। ऐसे माप की कोई कसौटी-हमारे पास नहीं है। हम खयाल की गायकी को पीढ़ी दर पीढ़ी बदलते देख रहे हैं, ध्रुपद में भी ऐसे परिवर्तन आते ही रहे होंगे। आज परिवर्तन कम आते हैं क्योंकि ध्रुपद की बढ़त और उपज आलाप की हो या बन्दिश की हो—इन्हें आज एक विशेष साँचे में कस दिया गया है, गमक और स्थायों के विधि-निषेध की एक लक्ष्मण-रेखा सी बना दी गई है जिससे बाहर निकलना मना है—नहीं तो ख्याल का रावण शुद्धता को भ्रष्ट कर देगा। पर पहले तो ध्रुपद में परिवर्तन आते ही रहे होंगे।

ध्रुपद में यह संरक्षणशीलता कब आई होगी इसका अनुमान बहुत कठिन नहीं है। गाना-बजाना जब ख्याल से अभिभूत हो गया संगीत की दुनियाँ पर जब ख्याल छा गया, तभी ध्रुपद को "अंग-रक्षा" की जरूरत पड़ी होगी।

माना जाता है कि पहले ध्रुपद में भी कई शैलियाँ थी, जो बानियां कहलाती थीं। पर "बानी" का उल्लेख वाजिद अली शाह के पहले नहीं मिलता। उस समय का भी जो उल्लेख मिलता है उसका शैली अर्थ लगाना कठिन हैं।[1] पर यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि ध्रुपद जब हिन्दुस्तानी संगीत की प्रधान विधा थी, देश के बड़े से बड़े प्रतिभाशाली गायक जब ध्रुपद गाते थे तब ध्रुपद के भीतर भी शैली भेद रहा ही होगा—जैसा आज ख्याल में है। पर ध्रुपद के अन्तर्गत शैली-भेद होना और ध्रुपद का अपने आप में एक विशिष्ट शैली बन जाना दो अलग बातें हैं। शैली-भेद तो प्रबन्धगान में भी होता ही रहा होगा।

तो प्रश्न है ध्रुपद एक विशिष्ट शैली कब बना, उसे और शैलियों से भिन्न शैली के रूप में कब देखा जाने लगा? सतरहवीं सदी के भावभट्ट ने ध्रुपद "प्रबन्ध" का जो वर्णन किया है, वह प्रबन्ध का ही वर्णन है, शैली का नहीं।[2]

ध्रुपद शैली कब बना इस प्रश्न का मेरे पास कोई तैयार जवाब नहीं है पर मैं समझता हूँ कि ध्रुपद को अलग शैलो माने जाने का सम्बन्ध ख्याल से है। जब ध्रुपद से ख्याल "निकला" तभी ध्रुपद को अलग शैली माना जाने लगा होगा—उससे पहले ऐसा मानने की जरूरत ही क्या थी? ध्रुपद का शैली बन जाना ख्याल के इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता। मैंने शुरू में ही कहा था कि ख्याल और ध्रुपद के बीच जो जन्य-जनक सम्बन्ध है उसको वैसा नहीं समझना चाहिये जैसा ध्रुपद और प्रबन्ध के बीच था। हम ध्रुपद से ख्याल के 'निकलने' की जब बात करते

१. देखिये, आचार्य बृहस्पति, ध्रुवपद और उसका इतिहास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ० २४८-२४९।

२. देखिये वही, पृ० २४६।

हैं तो बात शैली परिवर्तन की होती है। ध्रुपद में से संचारी आयोग छोड़ देने से ख्याल नहीं बन जाता, न ध्रुपद में सरगम या बोलबाट और तान-जोड़ देने से ख्याल बनता है। ख्याल और ध्रुपद का अन्तर प्रबन्धगत धातु अंग जैसी निर्मिति की ऊपरी बातों का अन्तर नहीं है। अन्तर गहरा है—स्थाय के परिवर्तन का है। हम कहते हैं कि ध्रुपद को लोच देकर उसके खड़ेपन को नरम, ललित बनाकर ख्याल बना। बात शैली की है – चलन या बरत के परिवर्तन की है। यहाँ पुराने से नये के निकलने की कसौटी भी नहीं है। इसी के साथ मैं समझता हूँ कि विधाओं को अलग करने में शैली प्रधान तत्त्व हो गई।

पर ख्याल का इतिहास अपने आप में एक गुत्थी है। कहा जाता है कि १८वीं सदी में नेमतखां सदारंग ने ध्रुपद को लोच देकर ख्याल बना दिया। पर यह किंवदन्ती ही है। नेमतखां के समय ख्याल को निकले बहुत समय हो चुका था—इसका प्रमाण तत्कालीन दिल्ली का आँखों-देखा कानों-सुना हवाला **मुरक्क-ए-देहली है** जो दरगाह कुली खां ने लिखा था। फिर ख्याल कब निकला ? यह अपने आप में एक बड़ा प्रश्न है। उसमें मैं यहाँ नहीं जाऊँगा। यहाँ तो मेरा उद्देश्य इतना ही है कि इस बात की वकालत करूँ कि ध्रुपद के इतिहास को एक नई दृष्टि से देखा जाये।

THE HISTORY OF DHRUPAD : PLEA FOR A NEW APPROACH

(Dr. Mukund Lath)

Summary by the Editor

The importance of distinction of style in today's Hindusthani Music

Today it is almost taken for granted that *Dhrupad* was born out of *Prabandha*, rather *Sūḍa Prabandha* and then *Khyal* was born from *Dhrupad*. This process of evolution has two components viz. *Prabandha* to *Dhrupad* and *Dhrupad* to *Khyal* and they are accepted as identical relationships of progenitor and progeny; the difference between these two is never spoken of. The author of the present article has tried to bring out this difference.

The difference between *Dhrupad* and *Khyal* is that of style. Any *Dhrupad* can be transformed into *Khyal* and musicians are quite familiar with this process of transformation. The Jaipur Gharana of Alladia Khan is said to have originated from this process itself. It is said that in the court of "Mohammad Shah Rangila" Nemat Khan Sadarang split up *Dhrupad* and gave it the flexibility of *Khyal*. This difference of style is not only relevant to singing, but also to playing on instruments; the reference to *Baj* (Instrumental style) of *Dhrupad* and *Khyal* is very common.

The contemporary Vocal and Instrumental Music of the classical level sustains the difference of *Dhrupad* and *Khyal* only on the basis of difference in style of performance. This difference is also very obvious in *Thumri* and *Tappa* which could be rendered both through the Vocal and Instrumental medium.

The importance of Style

In order to explain musical style, the author has taken recourse to two words viz. *Nirmiti* and *Tattva* which have been originally used by Kuntaka, the author of Vakrokti Jīvita, a well-known text on Sanskrit poetics of the late 10th or early 11th century. The word *Nirmiti* is not technical alone, it has a general meaning which could be said to be "the nature or type of creation or construction" or "structure". Kuntaka has said that the nature of literature can be said to be two-fold viz, *Tattva* and *Nirmiti*. The medium of literature is word and word has two distinct components viz, sound and meaning. The distinction between sound and meaning is both deep and obvious. The medium of music is only sound and in that sound we do not perceive any duality or dichotomy of two elements

like sound and meaning. Thus, music is merely *Nirmiti* or structure. In literature sound and meaning, *Nirmiti* and *Tattva*, both combine and delineate *Bhāva* or *Rasa*. It is the configuration of sound, or call it *Nāda*, which brings about the experience of *Bhāva*. Although in singing, meaningful words are often used, they are not essential for music because music is capable of sustaining itself without the use of meaningful words. Hence the existence of music depends on meaningful sound. It is notable that the distinction of style in music does not depend on the distinction of song-text.

Although in essence there is no distinction of *Tattva* and *Nirmiti* in music, as there is in literature, it could be said that Rāga as a melodic entity with potential of various formations in its rendering could be said to be *Tattva* and the various ways like *Dhrupad, Khyal* in which *Rāga* is rendered could be called *Nirmiti*. In other words, *Rāga* becomes manifest through different ways or styles of rendering like *Dhrupad, Khyal* or *Thumri*.

It is, therefore, to be conceded that when we talk of *Rāga* and *Dhrupad-Khyal*, we are talking of two distinct elements. In explaining the two we talk in terms of two distinct objects. When we talk of *Rāga*, we use the *Lakṣaṇas* (characteristics) like *Graha* or *Uthān, Aṁśa* or *Vādī Samvādī*, points of punctuation like *Apanyāsa* and *Nyāsa*, factors like *Alpatva* or *Bahutva*, straight (*avakra*) or curved (*vakra*) lines of melodic phrases and so on. All this is prescriptive. But when we talk of the *Dhrupad* or *Khyal* we talk of different things like *Ālāpa* and its sections like *Sthāyī, Antarā, Sañcārī* etc. Actually it is these sections which duly manifest *Rāga*. Just as the enunciation of *Rāga-lakṣaṇa* has a long history, which goes back to *Jāti* in an expanse of more than 2,000 years, similarly the way of rendering *Dhrupad* and *Khyal* can also be traced back to the *Saptarūpa* or *Gītaka* of Nātyasāstra, which is as old as *Rāga-Lakṣaṇa* itself.

The elaboration of *Rāga* in the *Dhrupad* form is structured in sections known as *Sthāyī, Antarā, Sañcārī* and *Ābhoga*. In *Khyal* the third and fourth sections are absent and we are left with only the first two. Moreover, in *Dhrupad* the *Ālāpa* is not done on the setting of *Tāla* and on this account it could be said to be *Anibaddha*. But in *Khyal* this is not essential; today the *Ālāpa* of the *Rāga* concerned in *Khyal* is rendered on the setting of the *Tāla* concerned in the slow portion and it is structured in two sections known as *Sthāyī* and *Antarā*. Hence it is obvious that the parts in which the delineation of Rāga is moulded are different in *Dhrupad* and *Khyal*. It is important to understand that the presence or absence of the setting of *Tāla* in *Ālāpa* is not the crucial factor which brings about the distinction between the rendering of *Dhrupad* and that of *Khyal*. Even if that distinction is eliminated the two would still be different. And this

understanding would lead us to the realization that the distinction between *Dhrupad* and *Khyal* is still deeper and that we should go into certain intricacies of melodic rendering like the way of approaching *svaras*. their intertwining etc. When a traditional composition of *Dhrupad* is turned into *Khyal*, it is done through a change of these intricacies; just the elimination of the third and fourth section of the composition does not turn *Dhrupad* into *Khyal*. That could be done and sometimes is done even by *Dhrupad* singers. If we want to use old terminology, we could say that it is the difference of *Sthāya* that is the essence of the distinction between *Dhrupad* and *Khyal*.

The term *Gamaka* is relevant to *Sthāya*. In performance the movement from one note to another involves the *chāyā* or shadow of one enveloping the other. This *chāyā* could move in many ways and that is why there are a number of *Gamakas*. But *Gamaka* by itself does not create a whole phrase or sentence or *Vidārī* in older terminology; it is *Sthāya* that is an independent constituent of melodic enunciation.

It is a specific combination or configuration of specific *Sthāyas* that constitutes style of musical rendering. There are some specific *Sthāyas* which are peculiar to *Dhrupada* and similarly *Khyal* has its own peculiar *Sthāyas*. Some styles are more amenable to change of *Sthāyas* and *Khyal* is a typical example. Some styles have to be guarded against change of *Sthāya* and *Dhrupod* as a typical example, to some extent even *Thumrī* and *Tappā*.

The origin of Style and Dhrupad.

It is believed today that *Khyal* is born out of *Dhrupad* just as *Dhrupad* was born out of its earlier form *Prabandha*. This process of one being born out of another is construed to be identical in both the cases, but there seems to be some misunderstanding here. *Prabandha* is not in vogue today and there is no way of direct comparison between *Prabandha* and *Dhrupad* in order to understand their mutual relationship.

Dhrupad is generally understood to be born out of *Sālaga Sūḍa Prabandhas*. The history of *Prabandha* in the textual tradition starts with *Mataṅga's Bṛhaddeśi* (about 8th cenjury A. D.). In the 13th century Śārṅgadeva speaks of a new types of Prabandhas known as Sālaga Sūḍa. It is notable that the distinctive nature of each *Prabandha* depended on the number or length of its sections known as *Dhātu* and the variety of textual components and specific *Tāla* or *Tālas* covered under six *Aṅgas*. The distinction of *Prabandhas* was not dependent on the nature of *Ālapti* or *Ālāpa*.

The basis of variety in Prabandhas.

The specification of *Dhātus* or *Aṅgas* in various *Prabandhas* does not enter the domain of style in rendering. It is more structural than stylistic. One *Prabandha* does not change into another simply because of a change in the style of its rendering. There are very rare references to stylistic differences in *Prabandhas*, but they are most negligible in number. The author has argued that style rests on *Gamaka* and *Sthāya* and they have practically no place in the formation of different varieties of *Prabandhas.* Hence the relationship of *Dhrupad* with *Sālaga Sūḍa Prabandhas* does not seem to imply a relationship, positive or negative, based on style. It could not be denied that the difference of style in rendering did exist in the time of *Prabandhas*. But the concept of a particular style that would encompass various *Prabandhas* does not seem to have been present in the context of *Prabandhas*. Today we identify *Dhrupad, Khyal, Thumri, Tappā* as distinct styles of rendering and they do encompass a vast variety of types of compositions in each case. These compositional types could be equated with *Prabandha* types. The concept of style is so well developed today that it makes possible the identification of a particular style not only in singing but also in rendering on the instruments.

Sālaga Sūḍa and Dhrupad.

The *Sālaga Sūḍa Prabandhas* were born out of the earlier varieties of *Prabandhas*. Dhrupad is said to be born out of one of these seven *Sālaga Sūḍas*. The author has avoided the controversy involved in identifying one of these seven as the progenitor of *Dhrupad.* His argument is that there was a definite affinity between the *Sālaga Sūḍas* and their predecessors reflected in their structural distinction. The distinction of style was not the determining factor in this type of *Prabandhas* and the foregoing types. In its earliest form *Dhrupad* might not have been distinct from the *Sālaga Sūḍas* on the basis of stylistic differences in rendering. *Dhrupad* could have been any type of *Prabandha* emerging out of the *Sālaga Sūḍas*.

Plea for a new approach

Today the question as to which variety of Sālaga Sūḍa could be the progenitor of *Dhrupad* is not crucial; rather the question as to when different distinctive styles known as *Dhrupad, Khyal* today emerged. In other words there was a time when *Dhrupad* was a typical *Prabandha*, when did it become a typical style ? The history of *Dhrupad* will have to be reviewed with a new approach for answering the above question.

It is very difficult to answer the above question because the available data have very little relevance to style and style is a factor that cannot be

recorded in notation. We know that today the performer of *Dhrupad* tries to guard his performance against those *Gamakas* and *Sthāyas* that are prohibited in *Dhrupad*. Similarly the performer of *Khyal* tries to guard against *Thumri*, although there is much greater flexibility in *Khyal*. It is difficult to say as to when these stylistic differences crystalized. It could, however, be conjectured that the attitude of guarding against *Khyal* must have come into being when *Khyal* became very imposing. Before that, even *Dhrupad* must have been amenable to the natural process of change.

The concept of *Bānīs* is often brought up in the context of different styles of *Dhrupad*. But the existence of stylistic differences within *Dhrupad* and the fact of *Dhrupad* being a distinctive style by itself are two different things.

It could be conjectured that *Dhrupad* became a style when *Khyal* emerged out of it. Before that there would have been no exigency for the acceptance of *Dhrupad* as a distinctive style.

SOURCES OF MATERIAL FOR CRITICAL STUDIES IN DHRUPAD SONG-TEXTS

Dr. Francoise DELVOYE, 'Nalini'

I. INTRODUCTION

The present paper is somehow a continuation of Subhadra Chaudhury's contribution to the textual studies of *dhrupad* songs, in her Hindī paper published in the 1986 issue of the *Dhrupad Annual.*[1]

Subhadra Chaudhury has analysed eight studies in Hindī, published after 1950, dealing with lyrical texts from rather different viewpoints : non-critical and critical editions of *dhrupad* songs, with a stress on the poetical value of such texts; musicological studies on the Dhrupad form of vocal music in various contexts, illustrated by song-texts, etc. The books under study were based on original (but comparatively recent) sources or on secondary ones.

Thence, a critical evaluation of original sources av ilable on *dhrupad* song-texts is needed and more particularly of earlier unpublished recensions. By introducing the main sources of *dhrupad* song-texts—which were only quoted in the 'Bibliography on Dhrupad' of the *Dhrupad Annual* 1986[2]—with a more descriptive and critical apparatus, and by analysing their specific problems and prospects, I hope to highlight the particular interest and scope of critical studies of the textual aspect of lyrical texts.[3]

II. HISTORY OF DHRUPAD : ROYAL PATRONAGE AND TEMPLE TRADITION

The history of Dhrupad is yet to be written.[4] It goes back to the reign of Rājā Mān Singh Tomar of Gwalior (1486-1516) who is often called the 'inventor' of Dhrupad.[5] If not the 'inventor' indeed, Rājā Mān Singh composed himself, or had composed, lyrical texts in vernacular languages, apparently based on some of the *sālagasuḍa* type of *prabandha*-s, later on known as *dhruvapada*, *dhrupada* or modern *dhrupad.*[6]

Rājā Mān Singh's learned patronage marked the starting of a lasting tradition of Hindu and Muslim rulers who appreciated the Dhrupad form of music and encouraged the composition and collection of this particular type of lyrical texts.[7]

Parallel to the royal court patronage, the Vaishnava temple tradition of singing devotional *dhrupad* texts, which is still alive, has been an important factor of transmission of song-texts, through both oral and written traditions.[8]

From the 18th century onwards, the Khyāl form of vocal music became more fashionable in royal circles and superseded Dhrupad,[9] although Dhrupad continued to be patronised by the aristocracy.

In the 20th century, this less popular but still respected genre of vocal music, is undergoing a 'revival' since the 70s, because of the interest and initiative of some scholars and individuals, generally backed by cultural institutions or trusts, who are organising various Dhrupad programmes and festivals.[10]

III. PERSIAN AND SANSKRIT ACCOUNTS OF DHRUPAD

A. Some accounts of Dhrupad from Persian texts

As Dhrupad was the most fashionable form of vocal music in the 16th and 17th centuries, a few contemporary Persian texts do mention '*dhurpad*', its form, its popularity and give some biographical accounts of its most famous exponents. As such, these texts deserve a particular study, from the point of view of the history of music.

I will briefly refer to the main Persian texts of the 16th and 17th centuries mentioning Dhrupad[11] :

1. The most famous account is maybe by Abū'l Fazl in the third volume of *Ā'īn-i-Akbarī*,[12] dated about 1596-1597 which mentioned '*Dhurpad*', introduced by Rājā Mān Singh and his musicians, as a "popular style of melody which was approved even by the most refined taste" and which later "came into universal favor." Abū'l Fazl wrote later : "The *Dhurpad* consists of four rhythmic lines without any definite prosodical length of words or syllables. It treats of the fascination of love and its wondrous effects upon the heart."

2. In the *Tūzuk-i-Jahāngīrī*, or *Memoirs of Jahāngīr*[13] (1605-1624), '*Durpat*' is mentioned in connexion with Ibrāhīm 'Ādil Shāh II of Bijapur (reign 1580-1627) and indirectly with Tānsen.

3. In the *Mīrāt-i-Sikandarī*[14] by Sikander bin Muhammad Manjhu (dated *circa* 1613), Dhrupad is mentioned in relation with Nāyak Baijū and other contemporary musicians.

4. The *Pādshāhnāmah*[15] (History of Shāh Jahān's reign) of Abd'ul Hamīd Lāhauri (1629-1650) gives an interesting account of the origin of Dhrupad, as, "to a large extent, the creation of Nāyak Bakhshū, the protege of Rājā Mān Tomar", with valuable informations on Bakhshū's voice and performing style; then follows an account on Tānsen and his descendant Lāl Khān Kalāvant.

5. The Persian Preface of *Sahasras*,[16] the collection of thousand *dhrupad* texts ascribed to Nāyak Bakhśū, compiled under the orders of Shāh Jahān and dated c. 1650, also gives interesting details on the Nāyak's *dhrupad* texts and on the vocal music of that period.

6. It is followed by *Rāg Darpan*,[17a] a Persian adaptation of the lost text ascribed to Rājā Mān Singh, '*Mānakutūhala*', by Faqīrullah, governor of Kashmir during Aurangzeb's time and dated 1665-1666. On 'Dhurpad' Faqīrullah said, in Shahab Sarmadee's English translation[17b], "it is an imaginative creation of Raja Man of gwaliyar, consisting of four *misra-s* and exploiting any of the nine Ras-s. The said raja imparted a popular basis to this type of classical singing. Very soon it came to be cherished by the elite and the populace alike. His co-ordinators have been the Nayak-s : Bakhshu, Mahmud, Karan and Lohank." These comments are followed by the reasons of the popularity of Dhrupad and some data on the musicians of Rājā Mān and Akbar's courts.

7. Another interesting account on Dhrupad is found in a Persian text by Mīrzā Khān, *Tuhfat-ul-Hind.*[18a] 'A Present from India', completed before 1675-1676. In chapter V, he wrote about Dhrupad, in Shahab Sarmadee's translation[18b], "it is a composition not in verse but rhymed; it is constituted of four '*tuk-s*'; each *tuk* is termed differently in this way : first, *asthai*, second, *antarā;* the last two are termed as *bhog*, commonly called *abhog* and also *ahog*. *Dhrupad* is mostly sung in *Bhākhā* (i.e. *Braj-bhāṣā*) it is said to have been designated by Rājā Mān Gwāliyarī, but God knows better...." Then follows a list of the four better practised varieties of Dhrupad : *Tewat*, *Phul Bandh*, *Jugal Bandh* and *Rāg Sāgar.*

8. The last example I will give here, of the later half of the 17th century, is another *tarjumah* or 'translation-cum-interpretation' of Rājā Mān Singh's '*Mānakutūhala*' by an unknown writer, under the name *M'arifat 'ul Arwāh*,[19] lit. 'The true knowledge of the true spirit'. In Shahab Sarmadee's translation, it is written about Dhrupad : "a child of the creative genius of Rājā Mān Gwāliyarī, composed of four lines and based on all the nine *rasa-s*. In this he was assisted by the *Nāyak-s* of his court. It proved to be a wonder of the time, according to the author. The reason for it being that the taste of the common man as well as the elite was successfully catered to...." Later he wrote : "ever since Dhrupad came to be recognised, *Marag* lost its foothold." This text gives interesting accounts on the *Nāyak-s* of Rājā Mān Singh's court and the vocalists of Akbar's court.

It is striking to notice that definitions and accounts of Dhrupad from Persian historical sources, are mostly dealing with the form and aesthetic content of *dhrupad* texts and rarely mention the performing style.

B. Mention of Dhrupad in Sanskrit texts

Unexpectedly, no specific mention or definition of Dhrupad is available in Sanskrit treatises on music, before the end of the 17th century, with the exception of one reference in *Saṅgīta Pārijāta* of Paṇḍit Ahobala, dated c. 1665.[20] This can be explained by the time required for the recognition of a new musical form, which is expressed in a vernacular language.

Though a late mediaeval writer on music, Bhāvabhaṭṭa who was patronised by Rājā Anūp Singh of Bikaner (reign 1674 to 1709) seems to be the first to give a definition (*lakṣaṇa*) of *dhruvapada* which has been quoted in most accounts of this form.[21]

The definition is given in the *Svarādhyāya* of Bhāvabhaṭṭa's *Anūpa Saṅgīta Ratnākara.* Its Sanskrit text and a Hindī commentary have been published in Ādināth Upādhyāya's paper on Bhāvabhaṭṭa in the *Dhrupad Annual 1986.*[22] For readers not familiar with Sanskrit and Hindī, an English translation-cum-interpretation by Prem Lata Sharma is given here.[23]

"[*Dhruvapada* is a traditional musical form consisting of composition and improvisation] adorned by literary texts composed in Sanskrit or the language of the Middle Country.

It has two or four 'sentences' (i.e. linguistic-cum-melodic units).

It is based on the 'affairs' of men and women.

It is decorated with *śṛṅgāra rasa* and its *bhāva* (i.e. it is erotic in its aesthetic suggestion).

It contains *rāga-ālāpa* (i.e. improvisation delineating the *rāga*, independant of the composed piece) and *pada* (i.e. melodic phrase in *ālāpa*, which is rendered with a non-sensical syllabic unit).

It has *anuprāsa* (rhyme) or *yamaka* (repetition of words giving a different meaning each time) at the end of each foot.

[When] it is composed in four feet like this, known as *udgrāha*, *dhruva* and *ābhoga* (the last one being split into two sections), it is *uttama* (high class) *dhruvapada.*"

Prem Lata Sharma has rightly analysed the six different aspects of Dhrupad taken up in Bhāvabhaṭṭa's definition, she implies : the linguistic aspect; the linguistic-cum-melodic structure; the thought-content; the aesthetic aspect; the improvisational aspect; the melodic-cum-literary structure.

There is a second definition of *dhruvapada* in Bhāvabhaṭṭa's *Saṅgīta Anūpāṅkuśa.*[24] This definition, which mentions the language of *dhruvapada* as *madhyadeśiya* only, omits many aspects dealt with in the first *lakṣaṇa*,

possibly because it comes in the context of a dance-form accompanied by Dhrupad music; regarding the structure, the second definition mentions that *dhruvapada* can consist of *udgrāha-dhruvaka-ābhoga, udgrāha-dhruva, dhruva-ābhoga* or *dhruva* only.

Bhāvabhaṭṭa's definitions of *dhruvapada* are actually the only ones available in Sanskrit treatises on music; it is striking to notice that Bhāvabhaṭṭa belonged to a time when Khyāl had already started superseding Dhrupad.

IV. *DHRUPAD* SONG-TEXTS

A. A vast corpus that was ignored until recently

Dhrupad song-texts are lyrical texts (*geya pada*) meant to be sung in the Dhrupad form of vocal music. They constitute a vast corpus which developed parallel to the *Bhakta-kavi* or 'Saint-poets' tradition in *Brajbhāṣā.*[25] Until recently, for different reasons, they have not been well-researched. For long, they were not 'appealing' to the scholars of literature, for whom these belonged to the 'field of music', and were not valuable as poetry, may be, because most of them were not metrical. At the same time, vocalists seem to have never really cared for the texts which they sung, which is even more true in the present day. And until recently, scholars of music were not much interested in song-texts, as most of them were available without notation and thence, felt as of 'no use for the study of music,'[26]

B. Description of *dhrupad* texts available today[27]

Bhāvabhaṭṭa's definitions of Dhrupad are quite relevant to *dhrupad* texts available today, from whatever written or oral recensions; still, some aspects which have been omitted or neglected should be described.

I. *Dhrupad* texts are generally of four lines, respectively called *sthāyī, antarā, sañcarī* and *ābhoga* (corresponding to the four sections of the musical pattern of Dhrupad divided by tonal structure).[28]

Each line has a variables number of syllables and generally has no metrical structure; as such, *dhrupad* song-texts belong to the *viṣama-chanda* (irregular metre) category of prosody.

The length of the four feet is generally unequal, either counted by syllables (*akṣara*) or measured by time-units (*mātrā*).[29]

The four lines have a final rhyme of one or more syllables and often the fourth line includes the name of the composer and/or his patron, in the *chāp* or *bhaṇitā*, as it is found in *Sangīta Ratnākara* in the description of the *ela-prabandha*; the *chāp* may also give the name of the beloved.[30]

2. The language, which Bhāvabhaṭṭa called *madhyadeśiya*, is generally known as *Braj-bhāṣā*, in its many regional and stylistic varieties, with vocabulary borrowed from Persian.[31] So far, no *dhrupad* text in Sanskrit has been found, besides the mention of it by Bhāvabhaṭṭa. There is also one exemple in *Dakkhinī Hindī*.[32]

3. The literary value of *dhrupad* texts studied out of their musical setting, is one of the striking feature of the rather recent scholarly studies in this category of lyrical texts; however, today it is seldom appreciated by the performers as well as the listeners and that factor largely contributes to the impoverishing of the textual aspect of this musical tradition.[33]

4. The thematic content of Dhrupad is much more varied than it is generally believed. Most recent accounts on Dhrupad do mention its 'exclusive' concern with religious subjects or praise to kings and patrons, or any 'serious' topic; actually, besides these subjects, *dhrupad* song texts deal with a wide range of other topics like *nāyaka-nāyika-bheda* (dealing with particular kinds of love and types of lovers), the description of nature and season philosophical views of life and similar topics, which are roughly the same as those treated by *Braj-bhāṣā* court-poets of the same period.[34] But one particular subject dealt with in *dhrupad* compositions seems to be more specific to the lyrical texts of this type : many *dhrupad* texts are connected, directly or indirectly, to music and dance, which should attract the interest of scholars of music. All edited works present a wide choice of compositions dealing with musical topics, which deserve a particular study. They cover all aspects of music, from the philosophical viewpoint, like the concept of *Nāda Brahma* and other aspects of sound (*nāda*), with images like *nāda-nagara, nāda-mandira, nāda-gaṛha, nāda-samudra, nāda-agādha*, etc.[35]

Many *dhrupad* song-texts deal with music in its theoretical and technical aspects with references to *Saṅgīta Ratnākara* and other musical treatises and if they do not always mention those texts, they show an obvious familiarity with their content.

Good examples of the thematic range of *dhrupad* texts can be seen in Ācārya Bṛhaspati's important work in Hindī, *Dhruvapada aur uskā vikās*, with many illustrations taken from a manuscript of the first half of the 19th century, based on oral tradition and known as the *Rāmpur Rāgamāla*.[36] Indurama Srivastava in her English book, *Dhrupada, a study of its origin, historical development, structure and present state*, also gives exemples with English translations (mostly from secondary sources); out of a sample of forty *dhrupad*-s ascribed to six known composers and some without *chāp*, the thematic variety is as such : sixteen *pad*-s deal with religious topics,

three with praise of kings, eight with *nāyaka-nāyikā-bheda*, seven on various aspects of music, three are descriptions of nature; one deals with *tantra* and two with metaphysical subjects. The above sample seems to be representative of the thought-content of *dhrupad* texts.[37]

V. SOURCE OF *DHRUPAD* SONG-TEXTS[38]

A. Original sources : written recensions and oral tradition

Available sources of *dhrupad* song-texts can be divided in two main categories : written recensions and oral tradition. But written recensions (manuscript or printed) are basically from oral sources ; primary written recensions are actually 'semi-oral', i.e. they are textual 'transcriptions' either from a direct oral source (a singer performing or recitating), or from the memory of the listener-turned-writer. That 'original' oral source itself may be the result of a more or less long tradition of oral transmission in various contexts (royal court or temple).

Compilers of *dhrupad* song-texts, who had very different motivations for collecting such lyrical texts, rarely mentioned their own source; the origin of the compositions can be only assumed through scholarly analysis of the place and date of writing (whenever available), the kind of collection, the various forms and types of song-texts, etc.

Even if most *dhrupad* song-texts are available today in written form, it should be noticed that they were basically transmitted by oral tradition (as other aspects of Indian music); later written recensions (manuscript, lithographic or printed) were not copied from earlier written recensions, but were mostly based on later oral sources; the unavoidable distortion of the texts is due to that specific way of transmission and not so much to scribal mistakes.[39]

B. The approach to the sources of *dhrupad* song-texts

Whatever may be the motivation of the scholar interested in the textual aspect of Dhrupad, the approach to sources is generally from secondary (if not tertiary) works, because of the lack of information on original sources. Extensive and discriminative reading and crossed-informations from scholars of music, literature and history will lead the research-scholar to original manuscript sources.

Once the sources are identified, their evaluation and classification are required :

(a) The material can be 'chronologically classified', whenever recensions are dated or datable. Many manuscripts are not dated and cannot be dated, because of the lack of specialised laboratories and the rules of some libraries.

(b) While collecting *dhrupad*-s ascribed to Tānsen, more than sixty sources of *dhrupad* song-texts have been identified; they belong to 'different categories', due to the various motivations of the collectors; some are unique of their kind, some constitute a type which is to be found later on.

C. Description of the main sources of *dhrupad* song-texts

I will give the description of the main sources of *dhrupad* song-texts in a tentatively chronological order, while referring to the various categories they belong to.

1. The earliest sources of *dhrupad* song-texts are *padāvalī*-s or *pada-saṅgraha*-s, collections of lyrical texts, generally Vaishnava (sectarian and non-sectarian), of the 16th and 17th centuries; their manuscripts are available in some libraries like Anup Sanskrit Library of Bikaner, City Palace library of Jaipur and Brindaban Research Institute Library of Brindaban. The collections look more like musical repertoires than literary anthologies.[40]

Some isolated *dhrupad* song-texts are found in such *padāvalī*-s including poems of many devotional poets, without any apparent order of authors, subjects or whatsoever. They generally mention the *rāg* in which the song is set. But the percentage of *dhrupad* compositions scattered in such metrical lyrical texts is extremely small.[41]

The topic of most of *dhrupad* texts found in earliest manuscript sources, is devotional and more specifically inspired by the *Kṛṣṇa-līlā*.

This type of collection of *pad*-s in a manuscript form—some of which have been edited and published—is still in use as a repertoire of devotional song for the cult (*sevā* and *bhog*) in Vaishnava temples, most particularly of the *Vallabha-sampradāy* and the *Rādha-Vallabha* sect. The *Havelī Saṅgīt*, or musical tradition of the Vallabhite temples of *Braj Bhūmi*, Rajasthan and Gujarat, is one of the most conservative source of lyrical texts because of the importance attached to the words in the purely religious context. The style of singing of these songs is described as 'Dhrupad' by the exponents of the temple tradition themselves, though it is a rather controversial statement, which cannot be discussed within the scope of the present paper.[42]

As an exemple, I will mention the earliest *dhrupad* text bearing the name of Tānsen, which I found so far. It is in a manuscript collection dated 1582, i.e. contemporary to Tānsen, and called *Padasūradāsajīkā*. It contains four hundred eleven *pad*-s including two hundred sixty two ascribed to Sūrdās and hundred forty nine by other poets (mostly devotional). This manuscript, known as the *Fatehpur manuscript*, is preserved in the reserved collection of Maharaja Sawai Man Singh II Museum, Jaipur.[43]

2. Manuscript and lithographic collections (edited or published or not)

(a) *Kitāb-i-Nauras* (composed between 1596 and 1624, as per Shahab Sarmadee's estimation) is a single example of a *rāg*-wise collection of fifty nine *dhrupad* song-texts by one single composer, Sultān Ibrāhim 'Ādil Shāh II of Bijapur (who reigned from 1580 to 1627); the manuscripts of *Kitāb-i-Nauras* are still extant and have been critically edited and published by Nazir Ahmad,[44] with an informative introduction about the Sultān and his work, which should encourage a further research from various points of interest. Despite the knowledge which Jahāngir had of Sultān Ibrāhim 'Ādil Shāh II's compositions—as he expressed in his Memoirs[45]—so far I know, not a single of his *dhrupad* texts has been found in any written collection nor in the living oral tradition in North India.

(b) Then the first example of a collection of *dhrupad* texts made under royal patronage, seems to be the *Sahasras*, a *rāg*-wise compilation of one thousand four *dhrupad* texts ascribed to Nāyak Bakhśū. Shāh Jahān developed a great li:ing for the *dhrupad* texts of Nāyak Bakhśū and ordered a compilation to be made from living musicians of all compositions ascribed to him, with an obvious care for their authenticity which is expressed in the Persian Preface introducing *Sahasras*. This extremely valuable work has been critically edited and published from two manuscripts, with an informative introduction by Prem Lata Sharma[46] and deserves a further research work, specially from the point of view of music and dance.

(c) The next important source of *dhrupad* texts belong to another category; these are the *dhrupad* songs given as illustration of musical texts. The first example seems to be the works of Bhāvabhaṭṭa, who has already been mentioned for his definitions of *dhruvapada*. Hundreds of song-texts from *Anūpa Saṅgīta Ratnākara* and *Anūpa Saṅgīta Vilāsa*, constitute the earliest 'anthology' of *dhrupad* texts collected from contemporary oral court tradition. Some Sanskrit sections of Bhāvabhaṭṭa's works have been edited, but without the *dhrupad* texts considered as 'useless for the study of music', as they are without notation. So these texts of the late 17th century, are found only in the undated manuscripts of Anupa Sanskrit Library of Bikaner and the City Palace Library of Jaipur (which has the only dated copy of *Anūpa Saṅgīta Vilāsa*, of 1696). Details can be found in Ādināth Upādhyāya's paper which has been already mentioned.[47]

(d) Then there is a big gap, apparently without any dated collections, till the undated *Rāmpur Rāgamālā* manuscript, (preserved in the library of the Sangit Natak Akademi, Lucknow), which must be around hundred fifty years old (as per Prem Lata Sharma's estimation).[48] It is a valuable *rāg*-

wise musical repertoire made by the musicians themselves. Most *dhrupad* texts illustrating Ācārya Bṛhaspati's work on Dhrupad are quoted from this anthology, the source of which is also oral, but from a family musical tradition.

(e) The compilation of *Saṅgīta Rāgakalpadruma* by Krishnānand Vyās, some rare lithographic copies of which, dated 1842, are still available,[49] is partly a musical treatise and mostly an anthology of lyrical texts, without notation. It is a huge collection of thousands of song-texts (not only *dhrupad*) made under royal patronage, from living musicians. Unfortunately, its text has been published in 1914-1916, without critical edition, in a rather distorted form, on which, the scholars of literature and music interested in *dhrupad* texts, mainly based their works published after 1950.[50]

(f) Another text, by an unknown writer, called *Saṅgīta Sāgara*, is preserved in a manuscript form in Mukund Lath's private library in Jaipur. It belongs to the category of musical treatises with song-texts illustrations (also from oral tradition, *buzurgoṁse*, 'from elderly people'); the manuscript is not dated but mentions the date of 1872 as what seems to be the date of writing.

3. Printed sources of the 19th and 20th centuries

Then in the end of the 19th century and early 20th century, quite a few collections of *dhrupad* texts (mostly from oral sources) have been published with and without notation. They come under various categories :

(a) as illustration of musical theory in various vernacular languages, like *Gīta Sūtra Sāra* (Bengali-Hindī), *Nāda Vinoda Grantha* (Hindī), *Saṅgīta Kalādhara Gujarātī* and *Saṅgīta Candrikā* (Bengali).[51]

(b) as musical repertoire, like *Anekasaṅgraha* (Hindī),[52] sometimes to 'save the song-texts from oblivion', like a few Bengali collections with notation, in which the song-texts are in *Braj-bhāṣā*, but in Bengali script : *Saṅgīta Mañjarī* and *Gīta Bādya Sāra Saṅgraha*,[53] and

(c) as text-books, with notation, like Paṇḍit Bhatkhaṇḍe's *Kramika Pustaka Mālikā* compilation, Rājā Nawāb Ali Khān's *M'ar'if-un-Naghmāt*, and Paṇḍit Omkarnāth Ṭhakur's *Saṅgītāñjalī*.[54]

(d) printed editions of *Saṅgīta Rāgakalpadruma* have already been mentioned.[55]

4. Recent secondary sources

After 1950, non-critical and more scholarly books have been published, with a stress on the textual aspect of *dhrupad* songs. The main

Hindī publications on lyrical texts studied from different points of view, which are based on primary or secondary recensions, have been analysed in Subhadra Chaudhury's paper which I already referred to in the Introduction.[56]

The latest publication giving a collection of *dhrupad* song-texts is Hariharnivās Dwivedī's book in Hindī on Tānsen,[57] which contains a biographical reconstruction based on available *dhrupad*-s, either bearing the name of Tānsen, Akbar, Rājā Rām, or sometimes without name, from different sources, without discriminating primary and secondary works.

5. *The oral tradition*[58]

It has been already noticed that written sources of *dhrupad* song-texts are mostly from oral tradition, through which most of the *dhrupad* texts have been transmitted.[59]

The 'actual' oral tradition includes various categories : the 'live' performances (divided in 'public' and 'private' concerts) and 'recorded' performances (further divided in commercial and non-commercial recordings of dead and living musicians). Interviews purposely arranged for scholarly work and collection of song-texts, based on the memory and the willingness of the musicians, are the third form of oral tradition involved in the work.

These categories have to be kept in mind, when evaluating the material collected through them, i. e. different settings (stage, temple or studio), different audiences (public, private, musicians, connoisseurs, etc.), time-limits imposed in studio recordings (but also in 'live' performances with many participants), and other factors do affect the authenticity and quality of the music, including the textual part. A systematic study of a wide corpus will certainly bring out significant results on the effects of space, time and other factors, on music in performance. State or private sponsors—replacing the aristocratic patrons—contribute indeed to the 'reviving', 'living' or simply 'surviving' of the Dhrupad tradition, and, at the same time, provoke significant and interesting changes of musical or extra-musical nature, which are worth studying.

1. Oral tradition as experienced through 'live' performances

While listening to a 'live' performance, the notation of the textual part of a *dhrupad* is rather difficult; the 'effect' of music as a whole, makes the concentration on the text not so easy; to catch the words is quite hard, even for ears familiar to *Braj-bhāṣā*. Moreover, nowadays, compositions are often abridged and the *chāp* or 'signature' of the 'poet-composer' rarely occurs, making the identification impossible.

2. Recordings as a source of *dhrupad* texts of both bygone and living oral tradition

(a) Commercial recordings.[60] It is attempting the impossible to present a Dhrupad performance in the time-limit of an L. P.; *ālāp* being a distinctive feature of the Dhrupad form of vocal music, it is a must for the performer to expose it—possibly in a dignified way—rushing through its different sections, to be able to sing the composition too; thence, the *dhrupad* text will be obviously abridged (which also happens on the stage, for various reasons which are not all 'time-bound'). The covers of commercial LP records produced in the West, generally offer some informative notes, with eventual transcription and content of the song-texts purposely made for listeners not familiar with Indian culture. But commercial recordings constitute a very limited source of material.

(b) Non-commercial recordings : besides the Archives of All India Radio and musical institutes and academies, the almost systematic recording of all Dhrupad performances and festivals constitutes a large corpus, available with different organisers; apparently no work has been done on such corpus, except in the premises of the Sri Caitanya Prema Sansthan, in Brindaban, where a systematic cataloguing, classifying, transcription of the first line or full text, and eventual English translation or summary of content is still in progress.[61]

(c) The collection of textual material from personal interviews with musicians—as per my own experience while collecting *dhrupad* texts ascribed to Tānsen—is rather poor. In the particular case of Tānsen, I noticed that, though everybody owed allegiance to him, most musicians I came accross, seemed to have very few compositions of Tānsen in their repertoire (still performed or only memorised).

Most musicians are not willing to give the textual parts, for various reasons : 'family-repertoires' of song-texts (orally preserved or occasionally written) are considered as 'very valuable', as an 'old treasure built up with lots of efforts', and, as such, they are kept 'secret' as a precious heritage to be transmitted to disciples only, and even then, in a restricted form.

Other musicians would even give *dhrupad* texts from printed sources (secondary), as belonging to their tradition ! But it seems that the main reason of the difficulty in getting *dhrupad* songs is the careless attitude of the musicians towards texts, which naturally become distorted and incomplete. There are some exceptions of elder musicians who seem more 'generous'; for obvious reasons, I will not give names of any musician of the various categories.

6. *The Vaishnava temple musical tradition*

As it has been already mentioned, the Vaishnava temple musical tradition is a rich source of *dhrupad* texts in written and oral forms. Some collections of *pad*-s sung in Vaishnava temples have been recently reprinted. Song-texts are generally classified according to the religious calendar. The *Havelī Saṅgīt* repertoire includes a number of songs by non-sectarian poets (even some, like Tānsen, belong to the court tradition) and, as a living musical form, constitutes by itself a valuable corpus for further comparative textual studies started by Campaklāl Chabīldās Nāyak, who is both a temple singer and a music-teacher of the Bhatkhande school.[62]

In some aspects of both its musical style and its repertoire, the *Rāsalīlā* religious drama of the Braj country, is related to Dhrupad. The importance of Dhrupad in the Krishnaite 'miracle plays' deserve further study.[63]

VI. STUDY OF THE SOURCE-MATERIAL ON *DHRUPAD* SONG-TEXTS

A. Methodology

The various categories of *dhrupad* song-text collections (from both oral and written sources) do express the wide range of the motivations of collectors, compilors, editors and literary scholars who initiated them. The scholar using those sources has to be aware of the unequal value of the material collected from so many different types of recensions. A reference apparatus is needed for any research work on the textual aspect of lyrical compositions, requiring the collation of material from different sources.

(a) Each source of material should be systematically defined, in a way which, at a later stage, will allow its evaluation. Such data should be mentioned, like the title of the collection (if any), the name of the author/collector/editor, etc. (when mentioned); the type of text (manuscript, lithography, printed); place and date details; the type of work (original source, secondary recensions, tertiary work, etc.); the script; the source (if mentioned); the notation-system (if any); and whenever possible, some figures should be made of the number of compositions, of composers, of *dhrupad* and non-*dhrupad* compositions (whenever mentioned); if the scholar is collecting *dhrupad* texts ascribed to a particular composer, the *chāp*, or 'signature' is to be noted (with figures on the number of instances (composer/patron/no *chāp*) or if the editor has suggested the name of a composer.

(b) For each composion, cards should be made with the first line, the folio or page numbers, line number and *pad* number (if mentioned) and other data like the *rāg*, the *tāl* as mentioned in the text, the notation-

system (if available), the language(if particular) and other details relevant to each type of study. Regarding the thought-content, it is useful to note down the main topic of each composition (devotional, praise of kings, Hindu or Muslim references, musical terms, etc.) In the case of recorded sources, other data, specific to audio-visual material classification have to be noted. All this systematic preliminary work will help in identifying sources and collating material whatever may be the purpose of the scholar and its own methodology.

B. Problems faced while collecting and editing *dhrupad* song-texts

1. Some problems are more specific to earlier manuscript sources like Bhāvabhaṭṭa's anthologies. Manuscript recensions reveal the main problem of research work on *dhrupad* texts, i.e. the non-accessibility of texts extant in manuscript form only available in some particular libraries; then, besides the deciphering difficulties, the identification of *dhrupad* texts among other types of *pad*-s, the identification of authors and the less number of *dhrupad* texts found in those earliest sources compared to later compilations; it is a striking fact that earlier recensions, which are more valuable, as closer to the original, offer texts which are less distorted by the oral transmission, but in an extremely limited number, while other compositions handed down by oral tradition, have been either 'forgotten', 'memorised' or noted down in a rather corrupt form, in comparatively higher figures.

2. The problem of authorship

Another interesting and revealing problem which has not yet been studied in a scholarly way by most writers on the subject, is the identification of the authors of *dhrupad* texts, i.e. the 'poet-composers'.

(1) *Vāggeyakāra-s* or 'Poet-composers'

Dhrupad texts used to be 'composed' by *vāggeyakāra*-s who were 'poet-composers' and eventually performers; thus, the songs were composed in some specific aesthetic unit in which the text, the melody and the rhythm were fixed in relation to each other.[64]

In the context of court-singers, *dhrupad*-s were mostly composed to please a patron, generally connoisseur of the art of music; in the context of temple-singers, songs were meant to propitiate a deity. Thus, 'poet-composers' were the best judges in creating poetico-musical works pleasant to their audience and principally their protector, though not necessarily expressing their own feelings.

I already mentioned that the last line of *dhrupad* song-texts generally includes the name of the 'poet-composer', in the *chāp* or *bhaṇitā.*[65] The most famous among them are Nāyak Gopāl I and Nāyak Gopāl II, Nāyak Bakhśū, Baijū Bawarā, Swāmī Haridās, Tānsen, Jagannāth Kavirāy, Dhondhī, etc. Many other *dhrupad* composers are mentioned by Ācārya Bṛhaspati in his important work on Dhrupad.[66]

The problems of *chāp* and authorship are treated in a separate paper by Prem Lata Sharma, in the present issue of the *Dhrupad Annual.* For readers not familiar to Hindī, I will give here the different categories occuring in the *dhrupad* song-texts I collected so far.

Many similar compositions—from both written and oral sources—are found with different *chāp*-s, i.e. with different authors' names, with eventual changes of the vocabulary of Sanskrit and Arabo-Persian origin, and occasional changes of the names of gods or patrons addressed to, in different *rāg-s* and *tāl-s.*[67]

The multiplicity of *chāp* for a similar composition from different recensions, increases the problem of authorship and gives the hint that many others may also be the results of similar changes, due to various reasons; respectable and fashionable names could have been inserted in place of later obscure poets; in the temple-repertoires, some *dhrupad* texts found in the court-tradition too, bear the name of some more Vaishnava poets like one *dhrupad* ascribed to Tānsen found with the *chāp* of Sughararāy in the Vallabha tradition. *Havelī Saṅgīt* exponents do believe that the Dhrupad musical tradition started in temples and was later on borrowed by court-singers along with the song-texts which they renamed after famous musicians. But some compositions bearing the name of court-singers like Tānsen are still used in the Vallabhite cult.[68]

(2) Patrons of Dhrupad

The name of the patron(s) of the 'poet-composer' may also be mentioned; it may come in the *chāp*, instead of the 'composer's' name, but can also be adressed or referred to, in any line of the *dhrupad* text.[69]

In his examples of *dhrupad* song-texts bearing the names of patrons, Ācārya Bṛhaspati has indiscriminately collected compositions with the patrons' name in all the three positions I mentioned above, which appears rather confusing.[70]

Many examples of *dhrupad* texts ascribed to Tānsen do mention the name of Rājā Rām[71] (i.e. Rājā Rāmacandra Baghelā) who was Tānsen's patron for a few years before he joined Akbar's court (in 1562, as per Abū'l

Fazl and Badā'ūnī's accounts[72]); even more compositions bear the name of Akbar along with Tānsen. Some *dhrupad*-s bear the names of both patrons, Rājā Rām and Akbar, with the *chāp* of Tānsen.

Sometimes, the name of the patron only occurs, then the identification of the 'poet-composer' is almost impossible, as kings used to have many 'poet-composers' in their court simultaneously who would put the name of their patron instead of their own, as it was common then.

Abū'l Fazl mentioned in the *Ā'īn-i-Akbarī*[73] that "most of Tānsen's compositions are written in Akbar's name"—which does not imply that all compositions with Akbar's name are of Tānsen—still, it does not help in identifying who is behind Akbar's name, in so many *dhrupad* song-texts; in most sources, including old manuscripts, there are statistically many more texts with the name of Akbar than those bearing the name of Tānsen, which is also true with Shāh Jahān and his court-musicians. *Dhrupad* texts with the name of a patron only (Akbar), but 'understood' or 'accepted' as Tānsen's creations are typical examples which abound in Ācārya Bṛhaspati's works, in which, texts with the name of Akbar only, are automatically quoted as Tānsen's compositions, without any rational reason.

In some other instances, the name of Akbar comes with the *chāp* of poets like Vyās, Gopāl Nāyak and Cañcal Sasi. Then, any composition with Akbar's name and without the poet's name can be presumably ascribed to Tānsen as well as to any of those poets attached to Akbar's court or contemporary to him.[74]

As mentioned before, *Kitāb-i-Nauras* is the only example in which the Sultān is definitely found to be the author of the *dhrupad* collection.[75]

In *Sahasras*, the name of 'Shāhjahān' has systematically replaced the name of the 'poet-composer', presumably Nāyak Bakhśū.[76]

(3) *Dhrupad* texts without *chāp* or 'signature'

There are also many *dhrupad*-s without any *chāp* which, in the present oral tradition, are 'felt' of being the creations of so and so composer. There are other examples of *dhrupad*-s including the 'poet-composer's' name in written recensions, which are sung today without any author's name.[77] This also happens in written collections mentioning the name of a composer after each text, i. e. the editor has, on unknown grounds, given the name of a composer, although there is no *chāp*.[78]

3. *Problems of critical editions of dhrupad texts*

The uncertainty of the authorship explains perhaps, the different levels of literary quality between many compositions bearing the same

author's *chāp*. Linguistic as well as stylistic comparisons are doubtful grounds for determining the authorship, as it is assumed that a 'poet-composer' will not compose in the same way if he has to please a Hindu or a Muslim patron, or if, in a more authentic vein, he expresses his own feelings to some specific audience or in a particular temple premises.

The problem of identification of the author makes critical editions of song-texts 'ascribed to one 'poet-composer', almost impossible, unlike it seems feasible for some saint-poets like Sūrdās and Nāmdev.[79]

Hardly any song-texts are found in manuscripts contemporary to their creation, and except for *Kitāb-i-Nauras*, and somehow *Sahasras*, very few collections of early source are made under one single name.

The collection of similar song-texts ascribed to one composer and written down at different periods, is hardly feasible; the distortion of *dhrupad* texts handed down by the oral tradition makes them often unintelligible in their later recensions; still, since some interest was aroused in publishing song-texts with or without notation, many *dhrupad*-s have been printed as they were found, without full understanding of their meaning.[80]

VII. SCOPE OF CRITICAL STUDIES IN *DHRUPAD* SONG-TEXTS

A. Despite all the problems involved in text-editing songs handed down in a musical tradition still hardly known, the research-work on *dhrupad* song-texts has a multiple interest.

Critical editions of *dhrupad* texts selected from earlier dated recensions or those which can be dated, could be worthwhile : this is what I am presently doing with a limited corpus of song-texts ascribed to Tānsen, from the anthologies of Bhāvabhaṭṭa and a few other manuscript texts. The rest of the *dhrupad*-s I have collected with the name of Tānsen (around fifteen hundred, including many similar compositions with reading-variantes) can constitute a larger corpus for a critical study of *dhrupad* songs as a poetico-musical type of lyrical texts; comparative studies can also be done with edited texts like *Kitāb-i-Nauras* and *Sahasras*, from different points of view.

B. The variety of subjects dealt with in *dhrupad* compositions, as shown in *Kitāb-i-Nauras*, *Sahasras* editions and later secondary studies by Ācārya Bṛhaspati, Indurama Srivastava and others,[81] makes this corpus a rich source of informations for further studies on many aspects of mediaeval India.

All recent studies on *dhrupad* song-texts do stress the need for further studies of the content of those texts taken as poetical works. For instance,

it would be interesting to study the particular treatment of classical poetical themes in lyrical texts composed to be sung in Dhrupad style in Muslim courts.

Besides their obvious literary and linguistic value, *dhrupad* texts provide important informations on the socio-religious background, particularly the Hindu-Muslim culture of the Mughal period, with Hindu artists employed in Muslim courts and conversely.

A specific study of the musical subjects dealt in *dhrupad* song-texts, specially in those from the earliest recensions, can reveal many informative elements on the mediaeval music of India, which are not always dealt with in theoretical works of contemporary Persian and Sanskrit writers. According to Prem Lata Sharma, these informations should be included as one of the sources for the writing of a 'History of Indian Music'. For instance, the texts I collected with the *chāp* of Tānsen (and many with the name of Akbar) mention more than eighty different technical terms related to music; *Kitāb-i-Nauras*; as well as some *dhrupad*-s ascribed to Tānsen, give some interesting *rāga-lakṣaṇa*-s (definitions of *rāg*-s in a poetical way);[82] numerous other aspects of music are dealt with, like the description of the qualities of 'good' musicians; many references are made to *guṇī*-s, 'experts' and to categories of musicians, instruments of music, etc. One can wonder about the musical rendering of didactic and technical texts on music. Prem Lata Sharma suggested that they were used for their pedagogical value and as a pleasant aid to memory for the students of music.[83]

Numerous *dhrupad*-s from *Sahasras* and some with the name of Tānsen, or Akbar only, reveal the high understanding and appreciation of music of both the 'poet-composers' and their patrons, which cannot be mere flattery, as without a basic knowledge of the intricacies of music, such song-texts would have not been pleasant to the listeners, and the main task of the *vāggeyakāra* ('poet-composer') was to please his present patron and audiences of various kinds.[84]

Besides interesting biographical elements on composers as well as their patrons, *dhrupad* texts provide some more general historical and semi-historical informations on the social set-up; they are often a valuable source of knowledge of multiple aspects of mediaeval culture, once they are corroborated with other authentic evidences.

CONCLUSION

After introducing various textual aspects of Dhrupad, from Persian accounts, Sanskrit treatises and *dhrupad* song-texts available today, it has been tried in the present paper, to highlight the multiple interest of critical studies in lyrical texts of this type, from original sources.

Earlier written recensions of *dhrupad* texts, collected under royal or temple patronage, are obviously more authentic source-material for critical work. The main sources and their specific problems, like their non-accessibility and their comparativety limited number have been briefly described. The oral transmission of lyrical texts is one of the main reasons for the 'distortion' of the *dhrupad* texts written down later, or still belonging to the oral tradition. Besides the difficult collation of early and later source-material, the revealing problem of authorship is also a major handicap for undertaking 'critical editions' of *dhrupad* texts ascribed to one 'poet-composer'.

Once the various sources of *dhrupad* texts are identified, evaluated and classified in a systematic way, they form a vast corpus, with a rich informative content related to multiple fields of research, which is worth studying on a wider scale, preferably by an 'interdisciplinary team' of scholars interested in mediaeval India.

NOTE ON TRANSLITERATION

As no unanimously recognized standard for transcribing Early New Indo-Aryan languages exists, the present paper displays various transcriptional modes, ranging from rigourous transliteration (for Sanskrit words, used in Sanskrit context), to phonetic transcriptional rendering (for modern Hindī words, including those of Sanskrit origin), and standard romanized transcriptions. Names of places are in the standardized form adopted in India (i. e. without diacritical marks), personal names follow both, transliteration (specially in bibliographical references and for writers whose name occurs only in Indian languages), and romanized standard form. The method of transcription of modern Hindī is that in New Indo-Aryan words-final consonant group plus *a* (excepting nasal plus consonant combination followed by *a*) the *a* is retained. Personal names of Sanskrit origin are pronounced with a very faint final and eventually medial *a* (e. g. Sūradāsa/ Sūr(a)dās(a)); names showing this ambiguity are represented in a modern form wherever it seemed reasonable in their particular context. Titles of *dhrupad* collections (generally made of Sanskrit words) are transliterated. Quotations are given in their original transcriptional mode. No complete consistency is possible since modern usage itself is variable.

As a convention, throughout the present paper, Dhrupad designates that specific form of vocal music; *dhrupad* designates the song-text meant to be sung in the Dhrupad form of vocal music.

ABBREVIATIONS (in alphabetical order)

B. C. R. : *Bhakti in Current Research*, 1979-1982, Proceedings of the Second International Conference on Early Devotional Literature, in New Indo-Aryan Languages; St Augustin, 19-21 March, 1982 (West Germany); Editor, Prof. Monika Thiel-Horstmann, Dietrich Riemer, Berlin, 1983.

BOD : 'Bibliography on Dhrupad', by Francoise Delvoye, 'Nalini', in *Dhrupad Annual* 1986 : pp. 95-115.

D. A. 86 : *Dhrupad Annual* 1986, Vol. I, General Editor, Prof. Prem Lata Sharma, published by the All India Kashi Raj Trust on behalf of the Maharaja Benares Vidya Mandir Trust, Varanasi, 1986. (Bilingual)

DAUV : *Dhruvapada aur uskā vikās*, by Ācārya Kailaścandra Bṛhaspati, Bihār Rāṣṭrabhāṣā Pariṣad, Patna, 1976 (in Hindī).

DDA : 'Dhrupada Dhamār Aṅk', *Saṅgīt*, samp. Lakṣmī Nārāyaṇ Garg, Hathras, Jan.-Feb., 1964. (in Hindī)

SRI : *Dhrupada*, A Study of its Origin, Historical Development, Structure and Present State, by Indurama Srivastava, Motilal Banarsidas, Delhi, 1980.

NOTES

1. Subhadrā Caudhurī, 'Dhrupad ke 'pad'-pakṣa kā adyatan adhyayan : cune hue kāryoṁ kī samīkṣā, in *D. A. 86* : pp. 20-33; English summary by the Editor : pp. 34-35; books referred to :
   (1) Sunīti Kumār Caṭṭopadyāya, 'Kavi Tānsen' in *Bhartīy Saṁskṛti*, Calcutta, 2nd ed, 1964 : pp. 143-162.
   (2) Sarayū Prasād Agravāl, *Akbarī darbār ke hindī kavi*, Lucknow, 1950.
   (3) Narmadeśvar Prasād Caturvedī, *Saṅgitajña kaviyoṁ kī hindī racnāeṁ*, Allahabad, 1955.
   (4) Hem Bhaṭnāgar, *Sṛṅgār-yug meṁ Saṅgīt-kāvya*, Delhi, 1970.
   (5) Prem Latā Śarmā (editor), *Sahasras* [Nāyak Bakhśū], New Delhi, 1972.
   (6) Cittarañjan Jyotiṣī, '*Rāgakalpadruma*' *kā viśleṣaṇātmak adhyayan*, Varanasi, 1984.
   (7) Campaklāl Chabīldās Nāyak, *Aṣṭachāpīya Bhakti Saṅgīt (Havelī Saṅgīt), udbhāv aur vikās*, Ahmedabad, vol. I, 1983; vol. II, 1985.

(8) Ācārya Kailaścandra Bṛihaspati, *Dhruvapada aur uskā vikās*, Patna, 1976; [*DAUV*]

Except for the last title (*DAUV*), the books mentioned above will be referred as note 1, followed by their respective number in brackets.

2. 'Bibliography on Dhrupad', by Francoise Delvoye, 'Nalini', in *D. A. 86* : pp. 95-115. [*BOD*].
3. Francoise Delvoye, 'Nalini', 'Problems and Prospects of critical studies of lyrical texts', paper read at the Seminar 'Research on Music', Khairagarh University (Madhya Pradesh), 15th-17th December 1986.
4. *DAUV*, *passim*; *SRI* : pp. 7-19; 20-26; in the present *Dhrupad Annual*, 'The History of Dhrupad. : Plea for a New Approach', by Mukund Lath.
5. H. N. Dwivedī, *Tomaroṁ ka itihās*, vol. II, *Gwāliyar ke Tomar*, Gwalior, 1976 : pp. 128-168, by the same writer, 'Man Singh's Manakutuhala and the Dhrupad' in the *Quaterly Journal of the National Center for Performing Arts* (*N. C. P. A.*), vol. VI, No. 2, June 1977 : pp. 12-21; *SRI* : pp. 23-24.
6. *DAUV* : pp. 34-38; *SRI* : pp. 7-19; Mukund Lath, *op. cit. supra* note 4.
7. *DAUV* : pp. 103-160 and *passim*, SRI : pp. 23-26 and *passim*; Sumitrā Ānandapālasiṅgh 'Dhruvapadagāyakoṁ aur dhrupadakāroṁ ke aśrayadātā' in *DDA* : pp. 14-26; S. N. Haidar Rizvi, 'Music in Muslim India' in *Islamic Culture*, XV (3), July 1931 : pp. 331-340 and 'Observations on 'Music in Muslim India', by H. G. Farmer, note by the Editor of *Islamic Culture*, XVII (4), 1943 : p. 444.; Abdul Halim, 'Music and musicians of the court of Shāh Jahān', in *Islamic Culture*, XIX (4), Oct. 1945 . pp. 354-360; same author, 'Muslim Contribution to the Development of North Indian Music' in *The Muslim Year Book of India*, Bombay, 1948-1949 : pp. 107-121, and 'Muslim rulers as great patrons of music' in *Essays in History of Indo-Pak music*, Dacca, 1962 : pp. 17-19; Mohd Azhar Ansari, 'Amusement and games of the Great Mughals' in *Islamic Culture*, XXXV (I), Jan. 1961 : pp. 21-31 [music : pp. 26-30]; Daniel M. Neuman, *The Life of Music in North India*, The Organization of an Artistic Tradition, Detroit, 1980, Indian edition , New Delhi, 1980 : *passim*; Joan Erdman, 'The Maharaja's Musicians; the Organization of Cultural performance at Jaipur in the 19th century', in *American Studies in the Anthropology of India*, edited by Sylvia Vatuk, New Delhi, 1978. : pp. 342-367.

8. *BOD* : pp. 109-111; cf. *supra* note 1 (7); various papers in *Dhrupad Samrāṭ Śrī Candanjī Caturvedī Smṛti Granth,* ed. Rāmnārāyaṇ Agravāl, Mathura, 1981 : pp. 161-253; Dīnadayālu Gupta, *Aṣṭa-chāp aur Vallabha sampradāy, ek gaveṣaṇātmak adhyayan*, 2 vols. 2nd ed., Prayag, 1970 : p. 27 and *passim*.

9. Cf. most publications on Indian Music; Bonnie Wade, *Khyāl, a Study in Hindustani Classical Vocal Music*, 2 vols. (Ph.D. Thesis), Lcs Angeles, 1971.

10. *D. A. 86* : pp. 116-124 and the 'Dhrupad News' in the present *Dhrupad Annual*.

11. This section of the present paper is mostly based on sources collected by Shahab Sarmadee, Senior Fellow of Indian Council for Historical Research, Aligarh. For a detatiled bibliography, see *BOD* : pp. 103-106; see also Najma Perveen Ahmad, *Hindustani Music*, A study of its development in 17th and 18th centuries, New Delhi, 1984, *passim*.

12. *Ā'īn-i-Akbarī* by Abū'l Fazl 'Allāmī vol. III, English translation from the original Persian, by H. S. Jarrett; 1st published, Calcutta, 1893-1896; 3rd reprint ed., New Delhi, 1978 : pp. 265-266.

13. *Tūzuk-i-Jahāngīrī*, vols. I and II, English translation by A. Rogers; edited by H. Beveridge; 1st published 1809-1914; 3rd ed., New Delhi, 1978; on '*durpat*', vol. I, pp. 271-272; about Tānsen, vol. I, pp. 412-413; vol. II, p. 71.

14. *Mīr'āt-i-Sikandarī*, by Sikander bin Muhammad Manjhu, English translation by E. C. Bailey, 'The Local Muhammadan Dynasties : Gujarat', London 1886; ed. Nagendra Singh, reprint, New Delhi, 1970.

15. *Pādshnāmah*, by Abd'ul Hamīd Lāhaurī, edited by Maulavis Kabir-al Dīn Ahmad and Abd-al-Rahīm, Bibliotheca Indica Series, 2 vols. Calcutta, 1866-1872.

16. *Sahasras, Nāyak Bakhśū ke dhrupadoṁ kā saṅgrah*, edited by Prem Lata Sharma, New Delhi, 1972; Persian preface in *devanāgarī* script : 2nd part, pp. 3-7; Hindī translation : pp. 8-13.

17a. *Rāg Darpan*, by Faqīrullah, manuscripts, Seminar Library, A.M.U., Aligarh and Rājā Pustakālaya, Rampur; H. N. Dwivedī, *Mānsingh aur Mānakutūhala*, Hindī translation, Gwalior, 1954, reprint, 1956; *op. cit*, *supra* note 5.

17b. Shahab Sarmadee, 'Mankutuhal and Rag Darpan, Reflections of a Great 17th century Scholar-Musician', in *ISTAR Newsletter*,

Nos 3-4, New Delhi, June 1984-1985 : pp. 18-26. On 'Dhurpad', p. 21. Shahab Sarmadee has critically edited and translated into English *Rāg Darpan* from original manuscripts.

18a. *Tuhfat-ul-Hind*, by Mīrzā Khān, alias Muhammad Ibn Fakr-ud-Dīn Muhammad, manuscript, Seminar Library, A.M.U., Aligarh; 5th chapter on Music; study in English in N. P. Ahmad, *op. cit. supra* note 11 : pp. 34-35; on Dhrupad : p. 105.

18b. Personal communication, Aligarh, February 1986.

19. *M'arifat'ul Arwāh*, the only manuscript available, Seminar Library, A.M.U., Aligarh; Dhrupad in chapter 11, folio 13,; personal communication by Shahab Sarmadee, Aligarh, 1985-1986.

20. *Saṅgīta Pārijāta*, by Paṇḍit Ahobala, Sarasvati Press, Calcutta, 1884: *Kāṇḍa* 1, verse 598: in half a *śloka*, it is said that '*dhraupada*' is composed in the languages of North India'.

21. The works of Bhāvabhaṭṭa are available in manuscripts in Anup Sanskrit Library, Bikaner and City Palace Library Jaipur; they have been partially edited by Dattātreya Keśav Jośī and published by Sītārām Sukathankar, Bombay, 1919-1921.

22. The text of Bhāvabhaṭṭa's first definition of *dhruvapada* is available in most publications on Dhrupad; the latest is in 'Bhāvabhaṭṭa ke granth aur unmeṁ dhruvapada', by Ādināth Upādhyāya, in *D. A*, *86* : pp. 69-92; English summary by the Editor : pp. 93-94; definition of *dhruvapada* and comments : pp. 77-82.

23. Personal communication, Bikaner, August 1986; Note : in square-brackets : not in Bhāvabhaṭṭa's text; in brackets : 'explanation-cum-interpretation.'

24. Bhāvabhaṭṭa's second definition of *dhruvapada*, from the *Nṛtyādhyāya* of *Saṅgīta Anūpāṅkusa*, text in A. Upādhyāya, *op. cit., supra* note 22 : p. 78 and comments : pp. 78-82.

25. See the Bibliography in *B.C.R.* : pp. 447-485.

26. Cf. *supra* note 1 (4); other studies on the musical aspect of poetry : Prem Lata Sharma, 'Musical Elements in *Sūradāsa* : *A Revaluation* ed. Nagendra, New Delhi, 1979; in Hindī, Uṣā Gupta, *Hindī ke Kṛṣṇa-bhakti-kālīn sāhitya meṁ saṅgīt*, Lucknow, 1959; Āśālatā Prasād, *Sūr kāvya aur saṅgīt tatva*, Ajmer, 1980; Jayadev Singh, 'Sūr ke padoṁ meṁ saṅgīt', in *Sūr*: *sandarbh aur samīkṣa*, : pp. 337-346; Prem Latā Śarmā, 'Sūradās kī kṛtiyoṁ meṁ gey 'pad'-bandha', *ibid* : pp. 347-361.

27. Based on the collections of *dhrupad*-s further described in V. C. (manuscripts, printed and oral sources), compiled while collecting *dhrupad* texts ascribed to Tānsen; Cf. *BOD* : pp. 106-109.

28. D. Richard Widdess, 'Aspect of form in North India Ālāp and Dhrupad', in *Music and Tradition,* Essays on Asian and other music presented to Laurence Picken, edited by D. R. Widdess and R. F. Wolpert, Cambridge, 1981 : pp. 143-179; Wim Van der Meer, *Hindustani Music in the 20th century*, The Hague, Netherlands, 1980; Indian edition, New Delhi, 1980 : pp. 30-49; *SRI* : pp. 57-69.

29. Subhadrā Caudharī, *Bhārtīy saṅgīt meṁ tāl aur rūp-vidhān*, Ajmer, 1974 : pp. 355-360; Prem Latā Śarmā, *Sahasras*, *ed. cit.* pp. 134-135.

30. Cf. Prem Lata Sharma's paper : 'Signature in Dhrupad Song-Texts and the Problems Arising Therefrom', in the present issue.

31. Hariharnivās Dwivedī, *Madhyadeśīy bhāṣā (gvāliyarī*), Gwalior 1955; 2nd ed., 1956; Dhirendra Varma, *Braj-bhāṣā*, Allahabad, 1954.

32. Ibrāhim 'Ādil Shāh II, *Kitāb-i-Nauras*, Introduction, Notes and Textual Editing by Nazir Ahmad, New Delhi, 1956. : pp. 78-81.

33. About the literary value of Dhrupad see *supra* note 1; some examples of references to Tānsen as a poet : *Tūzuk-i-Jahāngīrī*, *op. cit. supra* note 13, vol. I, : p. 413; Narmadeśvar Caturvedī, *Tānsen aur unkā kāvya*, Allahabad, 1956; Suniti Kumār Caṭṭopadhyāya, *supra* note 1 and 'Kavivar Tānsen' in *Ṛtambharā*, Allahabad, 1946 : pp. 123-148; Hariharnivās Dwivedī, *Tānsen, jīvanī, vyaktitva tathā kṛtitva*, Gwalior, 1986.

34. On Hindī poets of Akbar's court, see *supra* note 1 (2).

35. Cf. *infra* VII. B.; few examples are translated in English *SRI* : pp. 40-43; see also *DAUV* : pp. 266-267 and multiple examples in appendix : pp. 322-395.

36. *DAUV*, thematic study : pp. 252-274, illustration by *dhrupad* texts from the *Rāmpur Rāgamālā* manuscript (described *infra* V. C. 2. (d) and note 48) : pp 322-395.

37. *SRI* : pp. 27-46.

38. Most writers on the textual aspect of Dhrupad, give song-texts illustrations from sources (secondary or tertiary) rarely quoted, through the identification and evaluation of sources is the basic work for any critical textual studies ; see *supra* note 1 and *infra* VI. A.

39. There are quite a few examples—even in earlier recensions—of the inversion of the two sections of the first line, typical of the way of singing and giving the hint of the oral source of the texts.

40. Mukund Lath, '*Bhajan* as Song : towards an oral stemma of Nāmadev's *padas*' in *B.C.R.* : pp. 225-235.

41. Few examples of *dhrupada*-s ascribed to Tānsen from manuscript *padāvalī*-s are described in Āgarcand Nāhaṭā, 'Saṅgīt Samrāṭ Tānsen ke kuch aprakāśit dhrupad' in *DDA* : pp. 192-194.

42. Cf *BOD*: pp. 110-111; and *supra* note I (7).

43. *Padasūrdāsajīkā,The Padas of Surdas*, edited with introduction and appendices by Gopal Narayan Bahura, with an essay by Ken Bryant, Maharaja Sawai Man Singh II Museum Trust, Jaipur, 1984.

44. *Kitāb-i-Nauras*, *op. cit. supra* note 32.

45. Cf. *supra* note 13 : vol. I, pp. 271-272.

46. Cf. *supra* note 16, by the same author, Prem Lata Sharma, 'Sahasarasa (a compilation of Dhrupad texts ascribed to Bakshoo), Synopsis of a Treatise in *Indian Music Journal*,, vol. VIII-IX-X, Nos 15 to 20, Madras, 1972, '73, '74 : pp. 41-48.

47. Cf. *supra* notes 21 and 22.

48. Manuscript available at the Sangit Natak Akademi Library, Lucknow. The interest of the *Rāmpur Rāgamālā* collection has been noticed by various scholars. Prem Lata Sharma had a hand-written copy made of the manuscript, available at the Library of the Department of Musicology, B.H.U. Varanasi. Thakur Jaidev Singh often expressed his interest for this valuable anthology, in various personal communications, and in a paper 'Dhruvapada (dhrupad) kā prādurbhāv, vikās aur hrās' in the *Quaterly Journal of the National Center for Performing Arts* (*N.C.P.A.*), vol. IX, No 2, June 1982 : pp. 1-10; English summary : pp. 11-12; on *Rāmpur Rāgamālā* :pp. 3-4, 11, and some *dhrupad* examples,*passim*. Most *dhrupad* illustrations quoted by Ācārya Bṛhaspati in *DAUV*, are based on the *Rāmpur Rāgamālā*.

49. Lithographic copies of *Saṅgīta Rāgakalpadruma* are available at the Bharat Kala Bhavan, B.H.U., Varanasi, the City Palace Library, Jaipur. etc.

50. *Saṅgīta Rāgakalpadruma* by Krishnānand Vyās, has been edited by Nagendranāth Basu, Calcutta, vols. I and II (*nāgarī* script), 1914, 1916; vol. III (Bengali), 1916; see also Prem Lata Sharma, 'Rāgakalpadruma' ln *Indian Music Journal*, vol. V, No. 2, Delhi,

September 1969 : pp. 108-112. Works based on *Rāgakalpadruma*, cf. *supra* note 1 (2), (3) and (6) and Prabhudayāl Mitāl, *Saṅgīt Samrāṭ Tānsen, jīvanī aur racnāeṁ*, Mathura, 1960; by the same author, *Saṅgītācārya Baijū aur Gopāl*, Mathura, 1961.

51. —*Gīta Sūtra Sāra*, by Krishna Dhan Banerjee, 'Ostadi songs, with staff notation, bengali and devanagari scripts (1886); Translator's Explanations and Notes on Grammar and Theory of Hindusthani Music, as spoken of in Bengali, by above author, Gita Sutra Sar by Himanshu Sakhar Banerjee, vol. II, Pt. II, Nirendra Nath Benerjee, Berhampore, 1941. (English, Bengali, Hindī).

—*Nāda Vinoda Grantha*, by Pannālāl Gosvāmī, Delhi, 1896. (Hindī).

—*Saṅgīta Kalādhara*, by Dahyalal Shivram, Hereditary State Musician, Bhavnagar, Gujarat, compilator, 1st ed. 1910; 2nd ed. Bhavnagar, 1938. (First page in English, text in Gujarātī).

—*Saṅgīta Candrikā* or A Treatise on Hindu Music, by Gopeshwar Banerjee, vol. I, Burdwan, 2nd ed., 1925; vol. II, Ist ed., 1917. (First page in English, text in Bengali).

52. *Anekasaṅgraha*, by Gaṅgāviṣṇu Śrikṛṣṇadās, '*Vividh bhāntikī rāga rāgiṇī evaṁ uttamottam padoṁ kā apūrva saṅgraha*', compiled by Paṇḍit Rāmlāl, Kalyaṇ, Bombay, 1914 (Hindī).

53. —*Saṅgīta Mañjarī*, by Ramprasanna Banerjee, 'Sangit-Nayak', edited by Gopeshwar Banerjee, Calcutta, Ist ed. 1910; 2nd ed. enlarged and corrected, 1935. (First page in English, text in Bengali).

—*Gīta Bādya Sāra Saṅgraha*, by Mukhopādhyāya Cārucaran, Calcutta, 1908. (Bengali)

54. —*Hindustānī Saṅgīta Paddhati*, *Kramika Pustaka Mālikā*, by Viṣṇunārāyaṇ Bhātkhaṇḍe, vols I to VI, Marāṭhī edition, 1920-1937, Hindī edition, Hathras, 1951-1957; reed. 1964-1979.

—*M'ār'if-un-Naghmāt*, by Rājā Nawāb Alī Khān, original in Urdū (1924); Hindī translation, vol. II, reed., Hathras, 1952. vol. III, reed., Hathras, no date.

—*Saṅgītāñjalī*, Omkarnāth Ṭhakur, vols. I to VI, Bombay, 1954-1962, reed., 1975, 1977, 1979.

55. Printed editions of *Saṅgīta Rāgakalpadruma*, cf *supra* note 50.

56. Cf. *supra* note note 1 (2), (3), (5), (7), (8) and note 50; see also *Dhrupad Dhamār gāyan*, by Rājābhaiyā Pūchawāle, Gwalior, 1954; *Dhrupad svarlipi*, by Harinārāyaṇ Mukhopādhyāya, Ist vol.,

Prayag, 1961; *Dhrupad Saṅgīt*, by Jagdiś Sahāy Kulaśreṣṭha, Ist vol., Solan, 1978, and the *dhrupad* song-texts with notation published in *DDA* : pp. 32-105.

57. H. N. Dwivedī, *op. cit. supra* note 33.

58. See Ashok D. Ranade, *On Music and Musicians of Hindoostan*, New Delhi, 1984; chapter II 'Indian Oral Tradition and Hindustani Music' : pp. 23-49; part. pp. 36-45 and 49.

59. Cf. *supra* V. A. and note 39.

60. Cf. 'Discography on Dhrupad' by Peter-Friedrich Muller in the same issue.

61. Cf. 'An audio-visual library of Dhrupad compositions; towards a Center for Dhrupad Studies', by Peter-Friedrich Muller, Vrindaban, 1984.

62. Cf. *supra* note 8.

63. In the Braj tradition, the *Rās-līlā* religious drama is also connected with Dhrupad in its musical aspect; some *dhrupad* compositions included in its repertoire, bear the *chāp*, or 'signature' of court 'poet-composers' like Tānsen and Baijū : personal information by Kalyāṇ Prasād Śarmā 'Kiśorī', a renown 'Rās-dhārī' of Vrindaban, who is presently writing a book on this subject.

    See J.S. Hawley and S. Goswami, *At Play with Krishna* (Pilgrimage Dramas from Brindaban), Delhi. 1981; Norvin Hein, *The Miracle Plays of Mathura*, New Haven and London, 1972; Prabhudayāl Mital, *Braj kī Rāslīlā*, Vrindaban, 1983 : pp. 109—111.

64. Cf. *Saṅgīta Ratnākara* of Śarngadeva (Adyar edition) 3. 3. 4.; Cf. *DAUV* ; pp. 252-259.

65. Cf. *supra* IV. B. 2. and note 30.

66. Cf. *DAUV* : pp. 178-243 and *passim;* illustrations : pp. 367-395; see also *SRI* : pp. 119-138.

67. See the remarkable example of the *dhrupad* '*Mere to alah nāma kau adhāra ....*' quoted by P. L. Sharma in her paper on 'Signature' in Dhrupad Song (Cf. *supra* note 30); this *dhrupad* text, from both oral and written sources, shows one of the problems of editing song-texts transmitted by oral tradition.

68. Cf. the example quoted by Campaklāl Chabīldās Nāyak, *op. cit. supra* note 1 (7) : vol. I, part 2, p. 46 ; some examples of compositions by court 'poet-composers' included in the temple repertoire are given in the same work : *ibid.* pp. 40, 43, 48, 57-58. and 61 with the 'signature' of Tānsen and p. 48 of Jagannāth Kavirāy; more examples are available in the second volume.

69. Cf. P. L. Sharma's paper, (*supra* note 30).

70. In the appendix A of *DAUV*: pp. 322-366, two hundred eighty four *dhrupad* song-texts are given under the names of thirty-six patrons; actually they include the name of a patron, in any of the three positions (as a 'signature', as addressed to or as referred to), without discrimination.

71. *DAUV*, a few examples of *dhrupad-s* ascribed to Tānsen, including the name of Rājā Rām : pp. 371-372.

72. Cf. Abū'l Fazl's accounts in *Akbar Nāma*, vol. II, translated by H. Beveridge,(1912),11th reprint, 1977 : pp. 279-280,and *Ā'īn-i-Akbarī*, vol. I, translated by H. Blochmann (1871), 2nd ed., 1965 : p. 445; Cf. 'Abdūl-Qādir Badā'ūnī's account in *Muntakhab-ut-Tawārīkh*, vol, II. translated by W. H. Lowe (1884), reprint, 1986 : p. 345.

73. Cf. *Ā'īn-i-Akbarī*, *ed, cit*, *supra* note 72, : p. 445.

74. Cf. P. L. Sharma's paper (*supra* note 30) for some examples.

75. Cf. (*supra* V. C. 2, (a) and note 32; the *chāp* or 'signature' is 'Ibrāhīm'.

76. Cf. *supra* V. C. 2.(b) and notes 16 and 46; the *chāp* or 'signature' is '*Sāhjahāṁ*' in transliteration.

77. Cf. some examples from the oral tradition in P. L. Sharma's paper (*supra* note 30) and *supra* note 1 (6) : pp. 204-206, for an interesting example ascribed to Baijū.

78. There are a few examples in *Saṅgīta Candrikā*, vol. II, cf. *supra* note 51.

79. Sūrdās : cf. the critical edition in progress by Kenneth E. Bryant and J. S. Hawley, from earliest manuscript sources, with the help of a computer : Kenneth E. Bryant, 'The Fatehpur Manuscript and the Sūrsāgar Critical Edition' Project', in *B.C.R.* : pp. 37-44; Nāmadev : cf. Mukund Lath, *op. cit.*, *supra* note 40.

80. Cf. most of the secondary works dealing with the textual aspect of Dhrupad, *supra* note 1.

81. Cf. *supra* IV. B. 4.

82. Some examples of *rāga-lakṣaṇa-s* are given in *Kitāb-i-Nauras*, *ed. cit. supra* note 32 : pp. 69-72 (*Bhairav*, *Asavārī*, *Ramkrī*, etc.); some examples of *dhrupad*-s ascribed to Tānsen, from *Rāgakalpa-druma*, are quoted by Cittarañjan Jyotiṣī, cf. *supra* note 1 (6) : pp. 41-42 (*Bhairav*, *Ṭoḍī*, *Gurjarī*),

83. Cf. *supra* note 46 : p. 47.

84. Cf. *supra* VI. B. 2. (1) and note 64.

ध्रुपद के पद-पक्ष के समीक्षात्मक अध्ययन की सामग्री के स्रोत

डा० फ्रांस्वाज देलवोआ "नलिनी"

सम्पादिकाकृत सार-संक्षेप

१—भूमिका

यह लेख एक प्रकार से ध्रुपद वार्षिकी के प्रथम अंक में प्रकाशित सुभद्रा चौधरी के हिन्दी लेख की अगली कड़ी है। सुभद्रा चौधरी ने ध्रुपद के पद-पक्ष के अध्ययन को लेकर सम्पन्न आठ प्रकाशनों (सन् १९५० के बाद के) का विश्लेषण किया है। ये अध्ययन या तो पदों के आद्य (Original) किन्तु अपेक्षाकृत हाल के स्रोतों पर अथवा गौण (Secondary) स्रोतों पर आधारित थे। अतः यह आवश्यक है कि पदों के मूल (Original) स्रोतों, विशेषतः पुराने अप्रकाशित पाठ-संकलनों का मूल्यांकन किया जाए। ध्रुपद वार्षिकी के प्रथम अंक में प्रकाशित ग्रंथ-सूची (Bibliography) में अंकित पदों के मूल स्रोतों का विवरणात्मक और विश्लेषणात्मक परिचय देते हुए पदों के समीक्षात्मक अध्ययन के क्षेत्र को और उसकी विशेष रोचकता को उजागर करना लेखिका का उद्देश्य है।

२. ध्रुपद का इतिहास : राज्याश्रय और मन्दिर की परम्परा

ध्रुपद का इतिहास अभी बनना शेष है। सामान्य रूप से ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (१४८६-१५१६) को प्रायः ध्रुपद का "आविष्कारक" कहा जाता है। वे आविष्कारक न भी हों तो उन्होंने स्वयं अथवा अपने आश्रित वाग्गेयकारों के द्वारा देशभाषा में ऐसे पदों का निर्माण किया या कराया जिनका आधार सालगसूड प्रबन्धों में था और जो ध्रुवपद अथवा ध्रुपद कहलाये। राजा मानसिंह के विद्वत्ता-युक्त पोषण से हिन्दू और मुसलमान शासकों की एक लम्बी परम्परा का आरम्भ हुआ जिसमें कि ध्रुपद के पदों की रचना और संग्रह की प्रक्रिया के लिए उत्साहप्रद वातावरण बना रहा।

राज-सभा के संरक्षण के समानान्तर वैष्णव मन्दिरों में ध्रुपदगान की परम्परा भी चलती रही और आज तक जीवित है, जिसने मौखिक और लिखित दोनों प्रकार से ध्रुपद को प्रसारित किया है।

अठारहवीं शताब्दी से ख्याल गायन अधिक लोक ग्राह्य बनने लगा और उसने ध्रुपद को काफी कुछ पीछे धकेल दिया, फिर भी अभिजात वर्ग द्वारा ध्रुपद को किसी न किसी प्रकार से सदैव पोषण मिलता रहा।

२०वीं शताब्दी में इस अपेक्षाकृत कम लोकग्राह्य लेकिन फिर भी सम्मानित गेय रूप का संजीवन या पुनर्जीवन १९७० के दशक से आरम्भ हुआ है। इस आरम्भ के पीछे सांस्कृतिक संस्थाओं अथवा न्यासों का हाथ है जो कि ध्रुपद के समारोह और कार्यक्रम आयोजित कर रहे हैं।

३. फारसी और संस्कृत में प्राप्त ध्रुपद के विवरण

(क) फारसी ग्रन्थों में प्राप्त ध्रुपद के कतिपय विवरण

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में ध्रुपद सबसे अधिक लोक-ग्राह्य गेय रूप था। अतः कुछ समसामयिक फारसी ग्रंथों में ध्रुपद का रूप, उसकी लोकप्रियता, उसके विख्यात प्रतिपादकों अथवा प्रयोक्ताओं की जीवनियाँ आदि उल्लिखित हैं। इसलिए इन ग्रंथों का अध्ययन इतिहास की दृष्टि से आवश्यक है। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(i) अबुल फ़ज्ल ने आइने-अकबरी (१५९६-१५९७ के आसपास) के तीसरे खण्ड में ध्रुपद का उल्लेख किया है, उसे राजा मानसिंह और उनके आश्रित संगीतकारों द्वारा शुरू किया हुआ बताया है और यह कहा है कि वह ऐसा लोकप्रिय गेय रूप है जो सर्वथा परिष्कृत रुचि-सम्पन्न श्रोताओं द्वारा स्वीकृत हुआ और बाद में सर्वग्राह्य बन गया। अबुल फ़ज्ल ने बाद में लिखा है—"ध्रुपद में चार सताल पंक्तियां हैं, जिनमें पदों या अक्षरों का कोई छन्दोगत नियम नहीं है। इसमें प्रेम के आकर्षण और हृदय पर उसके चमत्कारिक प्रभाव का वर्णन रहता है।

(ii) तुजुके जहांगीरी (१६०५-१६२४) में "दुरपत" का उल्लेख बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (राज्यकाल १५८०-१६२७) के प्रसंग में और परोक्ष रूप से तानसेन के प्रसंग में मिलता है।

(iii) मिराते सिकंदरी, जिसके लेखक हैं सिकन्दर बिन मोहम्मद मंझू (लगभग सन् १६१३) में, ध्रुपद का उल्लेख नायक बैजू और अन्य सम-सामयिक संगीतकारों के प्रसंग में हुआ है।

(iv) पादशानामा (शाहजहाँ के राज्यकाल का इतिहास) अब्दुल हमीद लाहोरी (१६२९-१६५०) ने इस ग्रन्थ में ध्रुपद का रोचक विवरण दिया है। यथा—बहुत हद तक यह नायक बख्शू की रचना है जो कि राजा मान तोमर के आश्रित था। बख्शू की आवाज़ और गायन शैली पर भी मूल्यवान् विवरण है और तदनन्तर तानसेन और उसके वंशज लाल खां कलावन्त के सम्बन्ध में सूचनाएँ हैं।

(v) सहस रस की फ़ारसी भूमिका। सहसरस नायक बख्शू के १००० ध्रुपदों का संग्रह है, जो कि शाहजहाँ के आदेश से १६५० के आसपास बनाया गया था। इस भूमिका में उस काल के गायन पर और नायक बख्शू के ध्रुपदों पर रोचक सामग्री है।

(vi) राग दर्पण जो कि राजा मानसिंह के खोये हुए ग्रंथ मानकुतूहल का फ़कीरूल्ला द्वारा किया फ़ारसी अनुवाद है। फ़कीरूल्ला औरंगजेब के समय में काश्मीर के सूबेदार थे और यह अनुवाद सन् १६६५-१६६६ ई० में किया गया। ध्रुपद के बारे में उन्होंने कहा है—"यह ग्वालियर के राजा मान की कल्पना से उद्भूत रचना है, जिसमें चार मिसरे हैं और नौ रसों में से किसी भी रस का प्रयोग होता है। उक्त राजा ने शास्त्रोक्त गायन की इस विधा को लोकप्रिय स्वरूप दिया। शीघ्र ही यह विशिष्ट वर्ग और सामान्य जन दोनों में समान रूप से प्रिय बन गया। राजा मान के सहयोगी थे चार नायक—बख्शू, महमूद, करन और लोहंक।" इसके बाद ध्रुपद की लोक-प्रियता के कारण पर और राजा मान और अकबर की राज सभाओं के गायकों पर कुछ विवरण है।

(vii) तुहफ़ात्-उल-हिन्द। मिर्ज़ा खां का यह ग्रंथ १६७५-१६७६ से पूर्व पूरा हो गया था। इसके पांचवें अध्याय में उन्होंने ध्रुपद के बारे में लिखा है—"यह पद्य में नहीं है किन्तु प्रास-युक्त है। इसके चार तुक हैं, जिनके नाम हैं पहला-स्थायी, दूसरा-अन्तरा और अन्तिम दो का (एक)—नाम है—भोग या आभोग या आहोग। ध्रुपद अधिकतर भाषा में गाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इसकी रचना राजा मान ग्वालियरी ने की थी, किन्तु वास्तविकता भगवान् ही जाने।" इसके बाद ध्रुपद के चार प्रकारों के नाम दिए गये हैं, जिनका प्रचार अधिक था। यथा-तेवट, फुलबन्ध, जुगलबन्द ओर राग-सागर।

(viii) मारिफत्-उल-अरवाह। यह भी राजा मानसिंह के मानकुतूहल का किसी अज्ञात लेखक द्वारा तर्जमा है। इसमें ध्रुपद के बारे में कहा है—"यह राजा मान ग्वालियरी की सर्जनात्मक प्रतिभा से उत्पन्न है। इसमें चार पंक्तियाँ है और सभी नौ रस हैं। इसके निर्माण में राजा मान की सभा के नायक सहायक थे। यह अपने समय का आश्चर्य बन गया। इसका कारण यही था कि सामान्य जन और विशिष्ट वर्ग दोनों की रुचि के लिए इसमें सफल व्यवस्था थी।" बाद में कहा है—"जब से ध्रुपद को मान्यता मिली तब से मारग का पांव उखड़ गया।" इस ग्रंथ में राजा मानसिंह की सभा के नायकों और अकबर की सभा के गायकों का रोचक विवरण है।

यह रोचक तथ्य है कि फारसी के ऐतिहासिक स्रोतों में ध्रुपद के बारे में जो कुछ विवरण मिलता है, वह अधिकतर उसके रूप या आकार और भाव-भूमिका को ही लेकर है, उसकी गायन-शैली का प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता।

(ख) संस्कृत ग्रंथों में ध्रुपद का उल्लेख

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व संगीतशास्त्र के संस्कृत ग्रंथों में पंडित अहोबल के संगीत परिजात (सन् १६६५ के आसपास) को छोड़कर कहीं भी ध्रुपद का कोई स्पष्ट उल्लेख या लक्षण नहीं मिलता। वहाँ भी केवल आधा श्लोक है (काण्ड–१, श्लोक–५९८) जिसमें इतना ही कहा गया है कि ध्रौपद-उत्तर भारत की भाषाओं में

निबद्ध है। यह आश्चर्य की बात अवश्य है, किन्तु इसका कारण यही हो सकता है कि देशभाषा में निर्मित किसी नवीन गेय रूप को मान्यता मिलने में और शास्त्र-ग्रंथों में स्थान प्राप्त होने में इतना समय लगना स्वाभाविक है।

भावभट्ट, जो कि संस्कृत संगीतशास्त्रकारों की शृंखला में प्रायः अन्त में आता है, सम्भवतः प्रथम लेखक है, जिसने ध्रुवपद का लक्षण दिखा दिया है। उसके आश्रयदाता बीकानेर के राजा अनूप सिंह का शासनकाल १६७६ से १७०९ है। भावभट्ट के दिये हुए ध्रुपद के दो लक्षण ध्रुपद वार्षिकी के प्रथम अंक में आदिनाथ उपाध्याय के लेख में दिये जा चुके हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि भावभट्ट का काल वह था जब ख्याल ने ध्रुपद को अपदस्थ करना आरंभ कर दिया था।

४—ध्रुपद के पद

(क) विशालकाय संग्रह, जो अब से कुछ पूर्व तक उपेक्षित रहा :

ध्रुपद के पदों का विशाल समूह विरचित हुआ है जो कि भक्त कवियों अथवा सन्त कवियों के पद-साहित्य के समानान्तर चलता रहा है। कुछ समय पूर्व तक, अनेक कारणों से इन पदों पर भली भाँति अनुसंधान नहीं किया गया। साहित्य के विद्वानों के लिए यह पद-समूह रुचिकर नहीं हुआ क्योंकि यह संगीत का विषय था और काव्य की दृष्टि से इसलिए मूल्यवान् नहीं था कि उसमें छन्दो-विधान का प्रायः अभाव था। दूसरी ओर गायकों को गायन के पद-पक्ष के अध्ययन के प्रति विशेष अनुराग नहीं रहा और यह बात आज भी सही है। अभी हाल तक संगीत के अध्येता इस पद-समूह के प्रति आकृष्ट नहीं थे, क्योंकि इनमें से अधिकांश बिना स्वर-लिपि के ही उपलब्ध थे और इसलिए संगीत के अध्ययन हेतु अनुपयोगी माने जाते थे।

(ख) अधुना प्राप्त ध्रुपद के पदों का विवरण

भाव भट्ट का ध्रुपद लक्षण आज प्राप्त ध्रुपद के पदों के लिए सर्वथा प्रासंगिक है। फिर भी कुछ पक्ष ऐसे हैं जो भावभट्ट के विवरण के बहिर्भूत हैं। वे इस प्रकार हैं—

(i) ध्रुपद के पदों में प्रायः चार पंक्तियाँ होती हैं, जिन्हें आज स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग के नाम से जाना जाता है और जो कि ध्रुपद की स्वर-रचना के चारों खण्डों के अनुरूप हैं। प्रत्येक पंक्ति की अक्षर-संख्या अथवा मात्रा-संख्या प्रायः भिन्न रहती है और उसमें कोई छन्दोबद्ध नियम नहीं रहता। इस प्रकार के पद विषम छन्द के उदाहरण हैं। चारों पंक्तियों में अन्त्यानुप्रास रहता है और चौथी पंक्ति में प्रायः रचयिता का नाम अथवा उसके आश्रय-दाता का नाम छाप या प्रणेता के रूप में रहता है।

(ii) जिस भाषा को भावभट्ट ने मध्य-देशी कहा है उसे आज ब्रजभाषा नाम से जाना जाता है, जिसमें कि कई प्रकार के क्षेत्रीय और शैलीगत भेद हैं और फ़ारसी के शब्द भी यत्र तत्र मिले रहते हैं। जहाँ तक हमें ज्ञात है, संस्कृत में कोई ध्रुपद का पद उपलब्ध नहीं है, यद्यपि भावभट्ट ने संस्कृत का उल्लेख किया है। दक्खिनी हिन्दी में इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय की रचनाएँ अवश्य हैं।

(iii) ध्रुपद के पदों का साहित्यिक मूल्य, संगीत से उन्हें पृथक् रख कर अध्ययन करने के फलस्वरूप हाल ही में प्रकाश में आया है। किन्तु प्रयोक्ताओं अथवा श्रोताओं द्वारा आज उस पक्ष की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता और इसी कारण पद-पक्ष की समृद्धि संगीत की इस परम्परा में से क्षीण होती जा रही है।

(iv) ध्रुपद के पदों की विषयवस्तु का वैविध्य सामान्य धारणा की अपेक्षा बहुत अधिक है। इन पदों का धार्मिक या आध्यात्मिक विषयों के प्रति झुकाव अथवा आश्रयदाताओं की स्तुति अथवा अन्य कोई गंभीर विषय, इतने तक ही ध्रुपद की विषय वस्तु सीमित नहीं है। वास्तव में इनके अतिरिक्त नायक-नायिका भेद, प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण, संगीतशास्त्र के विषयों का विवरण इत्यादि इन पदों के वर्ण्य विषय हैं।

५—ध्रुपद के पदों के स्रोत

(क) मूल स्त्रोत : लिखित संकलन और मौखिक परम्परा

ध्रुपद के पदों के उपलब्ध स्रोत मुख्यतः दो कोटियों में रखे जा सकते हैं, (१) लिखित संकलन (२) मौखिक परम्परा। किन्तु लिखित संकलन (हस्त लिखित अथवा मुद्रित) मूलतः मौखिक स्रोत के आधार पर ही बने हैं। आद्य लिखित स्त्रोत वास्तव में अर्द्ध-मौखिक ही हैं, क्योंकि वे या तो किसी गायक के द्वारा गान अथवा पाठ के लिखित रूप हैं अथवा जो कोई श्रोता लिपिकार बन गया हो, उसकी स्मृति के आधार पर हैं। इन लिखित रूपों के मूलाधार भी अपने आप में मौखिक परम्परा में हस्तांतरण की प्रक्रिया में से गुज़रे हुए हैं। ध्रुपद के पदों के संकलन-कर्त्ताओं के कार्य के उद्देश्य भिन्न-भिन्न थे और वे अपने मूल स्रोतों का संकेतः प्रायः कभी भी नहीं देते, इन मूल स्रोतों का अनुमान लिपिकरण के देश और काल (यदि वह ज्ञात हो) के आधार पर अथवा पदों की विभिन्न कोटियों के आधार पर अथवा संकलन के विशिष्ट प्रकार के आधार पर करना होगा।

आज जो भी ध्रुपद के पद लिखित रूप में उपलब्ध हैं, वे मूलतः मौखिक परम्परा द्वारा हस्तान्तरित हैं। बाद के लिखित संकलन (हस्तलिखित, लीथोग्राफिक अथवा मुद्रित) पहले के लिखित संस्करणों के आधार पर तैयार नहीं हुए हैं, उनका आधार भी प्रायः मौखिक ही है। अतः उनमें सहज विकृति अनिवार्य रूप से है। लिपिकार का प्रमाद उतना नहीं, जितना कि मौखिक हस्तान्तरण इस विकृति के लिए उत्तरदायी है।

(ख) ध्रुपद पदों के स्रोतों के प्रति दृष्टिकोण

मूल स्त्रोतों की जानकारी प्रायः उपलब्ध नहीं होती। व्यापक और विवेकयुक्त अध्ययन, संगीत के विद्वानों से प्राप्त विविध सूचनाओं, साहित्य व इतिहास से अनुसंधाता को मूल हस्तलिखित स्रोतों की जानकारी मिल सकती है। यह जानकारी मिल जाने के बाद उन स्रोतों का मूल्यांकन और वर्गीकरण आवश्यक होगा। यथा—

(i) उपलब्ध सामग्री को कालक्रम से विभाजित किया जा सकता है, यदि संकलनों पर तिथियां पड़ी हों या उनकी तिथियां निश्चित की जा सकती हैं। अधिकांश पाण्डुलिपियां बिना तिथि के है और तिथि-निर्धारण उतना सरल भी नहीं।

(ii) तानसेन के ध्रुपद पदों का संग्रह करते समय लेखिका को ६० से अधिक स्रोत मिले जो विभिन्न कोटियों के हैं, क्योंकि संकलन-कर्त्ताओं के उद्देश्य भिन्न थे। कुछ कोटियां तो असाधारण हैं और कुछ ऐसी हैं, जिसमें कि अन्य सामग्री भी मिलती रहती है।

(iii) **ध्रुपद पदों के मुख्य स्रोतों का वर्णन**

ध्रुपद के पदों के मुख्य स्रोतों का संक्षिप्त विवरण, यथासम्भव काल-क्रम से उनके कोटि-निर्देश के साथ यहां प्रस्तुत हैं :—

(१) सबसे प्रारम्भिक स्रोत वे पदावली या पद-संग्रह हैं, जो सामान्यतः वैष्णव गेय पदों के संकलन हैं। ये सामान्यतः १६वीं १७वीं शताब्दी के हैं और उनकी पाण्डुलिपियां बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर की सिटी पैलेस लाइब्रेरी और वृन्दावन के अनुसंधान संस्थान के पुस्तकालय जैसे संग्रहालयों में हैं। काल-क्रम में सर्वप्रथम पाण्डुलिपियों में प्राप्त ध्रुपद पद प्रायः भक्तिपरक हैं और विशेषतः कृष्ण-लीला से सम्बन्धित हैं।

(२) हस्तलिखित अथवा लीथोग्राफिक संग्रह (सम्पादित अथवा असम्पादित, प्रकाशित अथवा अप्रकाशित)।

(क) किताब-ए-नौरस (१५९६-१६२४ के बीच रचित) ५९ ध्रुपद पदों का रागानुसारी संकलन है और एक ही रचयिता के पद-संकलन का एक मात्र उदाहरण है। रचयिता हैं बीजापुर के सुल्तान-इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (राज्यकाल १५८०-१६२७)। किताब-ए-नौरस की पाण्डुलिपियां अब भी उपलब्ध हैं और उनका पाठ-समीक्षात्मक सम्पादन नसीर अहमद द्वारा हुआ है। सम्पादक की विस्तृत भूमिका-सहित इस संकलन का प्रकाशन हुआ है। इस पर आगे अनुसंधान के लिए खुला क्षेत्र है। आश्चर्य की बात है कि ये ध्रुपद पद उत्तर भारत में किसी भी लिखित संकलन अथवा आज जीवित मौखिक परम्परा में प्राप्त नहीं है।

(ख) राजाश्रय में सम्पन्न ध्रुपद पदों के संकलन का सम्भवतः पहला उदाहरण है—सहसरस, जिसमें नायक बख्शू के नाम से जुड़े हुए १००० ध्रुपद पदों का रागाधारित संग्रह है। शाहजहाँ को बख्शू के पदों पर विशेष अनुराग था और उन्होंने जीवित गायकों से उपलब्ध बख्शू के नामांकित पदों का संकलन कराया। इस अत्यन्त मूल्यवान् संग्रह का दो पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादन और विस्तृत भूमिका सहित प्रकाशन हुआ है। सम्पादिका हैं—प्रेमलता शर्मा। इस संकलन पर भी आगे अनुसंधान के लिए प्रभूत क्षेत्र है।

(ग) अगला उपलब्ध ध्रुपद पद-संग्रह भिन्न कोटि का है। इस कोटि में संगीत के शास्त्रीय ग्रंथों में उदाहरण-स्वरूप ध्रुपद के पद दिए गए हैं। इसका सम्भवतः पहला उदाहरण भाव भट्ट के ग्रंथ हैं। उनके अनूप संगीत रत्नाकर और अनूप संगीत विलास में ध्रुपद के सैकड़ों पद रागों के अन्तर्गत उदाहरण-स्वरूप संकलित हैं। इन ग्रंथों का जब सम्पादन हुआ तब इन पदों को संगीत के अध्ययन के लिए अनुपयोगी मान कर छोड़ दिया गया क्योंकि उनमें स्वर-लिपि नहीं थी।

(घ) इसके बाद बहुत बड़ा अन्तराल है, जिसमें कि तिथि-सहित संकलन प्राप्त नहीं होते। इसके बाद आती है रामपुर रागमाला की पाण्डुलिपि जो अब उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ, के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस पर तिथि अंकित नहीं है। फिर भी यह रागाधारित पद-संग्रह के रूप में मूल्यवान् है। यह संग्रह स्वयं गायक-वादकों द्वारा निर्मित है। आचार्य बृहस्पति के ध्रुपद-सम्बन्धित ग्रंथ में उद्धृत अनेक पद इसी संग्रह में से हैं। इसका स्रोत भी मौखिक ही है, किन्तु एक परम्परागत संगीत-साधक परिवार में यह संकलन हुआ है।

(ङ) कृष्णानन्द व्यास द्वारा संकलित संगीत रागकल्पद्रुम की कुछ लीथोग्राफिक प्रतियां, जो १८४२ में बनी थीं, अब भी उपलब्ध है। यह कुछ भाग में संगीत शास्त्र का और अधिकांश भाग में गेय पदों का स्वर-लिपि-रहित संग्रह है। यह सहस्रों पदों का विशालकाय संकलन जीवित गायकों से प्राप्त सामग्री का संग्रह है। दुर्भाग्य से इस संकलन का १९१४-१९१६ में जो संस्करण प्रकाशित हुआ उसमें, पाठ-समीक्षा का अभाव है और अनेक विकृतियां प्रविष्ट हो गयी हैं। साहित्य और संगीत में रुचि रखने वाले विद्वानों ने ध्रुपद के पदों पर जो कुछ काम १९५० के बाद किया है, वह अधिकांशतः इसी संकलन पर आधारित है।

(च) किसी अज्ञात लेखक द्वारा प्रस्तुत एक अन्य पद-संग्रह, जिसका नाम है संगीत सागर, पाण्डुलिपि के रूप में मुकुन्द लाठ के निजी संग्रहालय में सुरक्षित है। यह उस कोटि का संग्रह है, जिसमें संगीत शास्त्र में उदाहरण के रूप में पद रखे जाते हैं। इसका स्रोत भी मौखिक ही है। तिथि का अंकन नहीं है, किन्तु १८७२ तिथि का उल्लेख है, जो सम्भवतः इसकी तिथि होगी।

३. उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के मुद्रित स्रोत :

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और २०वीं शताब्दी के आरंभ में ध्रुपद पदों के कई एक संग्रह मुख्यतया मौखिक स्रोतों के आधार पर बने और स्वर-लिपि-सहित अथवा उससे रहित रूप में प्रकाशित हुए। इनकी विभिन्न कोटियां हैं। यथा—

(क) संगीत शास्त्र के उदाहरण-स्वरूप विभिभ देश भाषाओं में। जैसे—गीत-सूत्र सार (बंगला-हिन्दी), नाद-विनोद ग्रंथ (हिन्दी), संगीत-कलाधर (गुजराती) इत्यादि।

(ख) संगीत के संग्रह के प में पदों को लुप्त होने से बचाने के उद्देश्य से प्रस्तुत संकलन जैसे कि संगीत मंजरी, संगीत चन्द्रिका, गीत-वाद्य-सार-संग्रह। इनमें स्वरलिपि-सहित ध्रुपदों का संग्रह है।

(ग) स्वरलिपि-सहित पाठ्य पुस्तकें जैसे कि पं० भातखण्डे की क्रमिक पुस्तक-मालिका, राजा नबाब अली की मारिफ़-उन-नग़मात, पं० ओंकारनाथ ठाकुर की संगीतांजलि इत्यादि।

(घ) संगीत रागकल्पद्रुम के मुद्रित संस्करण को चर्चा पहले की जा चुकी।

४. हाल के गौण स्रोत

१९५० के बाद पाठ-समीक्षा के बिना कुछ विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें ध्रुपद के पद-पक्ष पर बल रहा है। इन अध्ययनों का आधार मूल अथवा गौण संकलन रहे हैं और इनका विश्लेषण सुभद्रा चौधरी के लेख में हो चुका है।

नवीनतम प्रकाशन है—हरिहर निवास द्विवेदी का तानसेन पर हिन्दी ग्रंथ जिसमें कि तानसेन की जीवनी का पुनरुद्धार, ध्रुपद पदों के आधार पर किया गया है। इसमें आद्य और गौण स्रोतों मे विवेक किये बिना तानसेन, अकबर, राजा राम की छाप से अथवा कभी-कभी बिना छाप के भी प्राप्त पदों को आधार बनाया गया है।

५. मौखिक परम्परा

मौखिक परम्परा से हमारा प्रत्यक्ष विभिन्न प्रकार से होता है। यथा—'सजीव प्रयोग' (Live Performence) जिन्हें सार्वजनिक और निजी महफ़िलों से बाँटा जा सकता है और ध्वन्यंकित (Recorded) प्रयोग जिन्हें व्यावसायिक और अव्यावसायिक कोटियों में तथा जीवित और दिवंगत गायकों की श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है। अनुसंधान के निमित्त उद्देश्य-पूर्वक आयोजित गायकों से भेंट-वार्ताएँ, मौखिक परम्परा से प्रत्यक्ष का तीसरा प्रकार है।

(i) सजीव प्रयोग द्वारा अनुभूत मौखिक परम्परा

सजीव प्रयोग को सुनते समय संगीत के समग्र प्रभाव के कारण केवल पद पर अवधान केन्द्रित करना उतना सरल नहीं होता, भाषा से परिचित श्रोता के लिए भी

शब्दों को पकड़ पाना कठिन होता है और आजकल तो पदों को प्रायः संक्षिप्त करके गाया जाता है। अतः वाग्गेयकार की छाप तो प्रायः सुनने को नहीं मिलती।

(ii) **बीती हुई और जीवित मौखिक परम्परा का ध्वन्यङ्कित रूप : ध्रुपद पदों के स्रोत के रूप में**

(क) **व्यावसायिक रिकार्ड :** एल० पी० रिकार्ड की समय-मर्यादा के भीतर ध्रुपद के पूरे प्रयोग को भरना असम्भव है। आलाप का ध्रुपद में विशिष्ट स्थान है, अतः उसे आवश्यक विस्तार देने के बाद पूरा पद गाने का समय ही नहीं बचता। अतः पद का संक्षेप अवश्यम्भावी है। इस कोटि में प्राप्त सामग्री अत्यन्त संक्षिप्त है।

(ख) **अव्यावसायिक रिकार्ड :** आकाशवाणी, संगीत नाटक अकादमियों एवं संगीत संस्थानों के अभिलेखागार, गत १२ वर्षों में आयोजित ध्रुपद समारोहों के ध्वन्यंकित रूप इन सबको मिलाकर एक विशालकाय संग्रह देश में तैयार हो गया है, जिसका कोई विधिवत् अध्ययन अभी नहीं हुआ है।

(ग) गायकों से भेंट-वार्ता के द्वारा पदों का संग्रह करना लेखिका के अनुभव के अनुसार अत्यन्त दुष्कर है। अधिकांश गायक पद देने को प्रस्तुत नहीं होते क्योंकि उनकी मान्यता है कि पद-संग्रह तो उन्हें बुजुर्गों से मिली हुई विरासत है, जो लुटाने के लिए नहीं है। फिर यह भी बात है कि अधिकांश गायक पद के प्रति उतने अवधानवान् नहीं होते और इस कारण पद विकृत और अपूर्ण रूप में उनके पास होते हैं।

६. वैष्णव मन्दिर की संगीत परम्परा

वैष्णव मन्दिरों की संगीत परम्परा में ध्रुपद पदों का लिखित और मौखिक संग्रह अत्यन्त समृद्ध रूप में उपलब्ध है। कुछ पद-संग्रह तो हाल ही में पुनर्मुद्रित हुए हैं। इन पदों का वर्गीकरण मन्दिर के पर्वों, उत्सवों के चक्र के अनुसार होता है। वल्लभ सम्प्रदाय के पद-संग्रह में तानसेन जैसे दरबारी गायकों के पद भी संगृहीत हैं। यह सारी सामग्री अपने आप में अनुसंधान के लिए विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत करती है।

५. ध्रुपद पदों की मूल सामग्री का अध्ययन

(क) प्रणाली अथवा प्रक्रिया

ध्रुपद पदों के विभिन्न कोटियों के संग्रह, जो कि मौखिक और लिखित स्रोतों के आधार पर बनाये गये हैं, इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि संग्राहकों, संकलनकर्त्ताओं, सम्पादकों, साहित्यिक विद्वानों (जिनकी प्रेरणा से वे बने हों) के भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहे हैं। जो शोधार्थी इस सामग्री का उपयोग करेगा, उसे इस बात के प्रति जागरूक होना चाहिए कि जो सामग्री संगृहीत हुई है, उसका मूल्य एक-सा नहीं है। गेय पदों के पद-पक्ष पर अनुसंधान के लिए विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री के परितुलन हेतु संदर्भ उपकरण (reference apparatus) अत्यन्त आवश्यक है।

(i) सामग्री के प्रत्येक स्रोत का विधिवत् इस रूप में अंकन होना चाहिए कि आगे चलकर कभी भी उसका मूल्यांकन किया जा सके। संग्रह का नाम (यदि कोई हो तो) रचयिता/संग्राहक/सम्पादक आदि जहाँ उल्लिखित हों, वहाँ उनके नाम, सामग्री की कोटि (पाण्डुलिपि, लिथोग्राफी, मुद्रित) स्थान और तिथि का विवरण, संकलन-कार्य की कोटि (मूल स्रोत, गौण संकलन अथवा तृतीय स्थानीय कार्य इत्यादि), लिपि, स्रोत (यदि उल्लिखित हो तो), संगीत-लिपि-पद्धति। (यदि कोई हो तो)—यह सब कुछ अंकित किया जाना चाहिए। यदि शोधार्थी किसी एक वाग्गेयकार के ध्रुपद पदों का संग्रह कर रहा हो तो छाप के सम्बन्ध में भी सूचना अंकित करना आवश्यक है कि वाग्गेयकार/आश्रयदाता का नाम है अथवा छाप-रहित पद है अथवा सम्पादक ने रचयिता का नाम सुझाया है।

(ii) प्रत्येक पद के लिए प्रथम पंक्ति को अंकित करते हुए कार्ड बनाना चाहिए जिस पर पत्रा अथवा पृष्ठ, पंक्ति और पद की संख्या (यदि दी गई हो तो) एवं अन्य सामग्री जैसे—राग, ताल जो भी उल्लिखित हों, स्वर-लिपि-पद्धति, भाषा, (यदि कुछ विशिष्ट हो तो) एवं अन्य विशिष्ट विवरण जो कि किसी अध्ययन के लिए प्रासंगिक हो, अंकित किया जाना चाहिए। विषय-वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्येक पद का मुख्य विषय जैसे—भक्तिपरक, राजस्तुति, हिन्दू अथवा मुसलमानी सन्दर्भ, संगीत की शास्त्रीय शब्दावली—अंकित किया जाना चाहिए। ध्वन्यङ्कित स्रोतों के संदर्भ में अन्य सूचनाएँ जो कि दृश्य श्रव्य अंकन के लिए आवश्यक हों, वे भी अंकित की जानी चाहिए। यह सारा विधिवत् प्रारम्भिक कार्य स्रोतों की पहचान और परितुलन की सामग्री के निर्माण में सहायक होगा, शोधार्थी का उद्देश्य कुछ भी हो।

(ख) **ध्रुपद पदों के संग्रह और सम्पादन की समस्यायें**

पाण्डुलिपियों की दुर्लभता, पद के रचयिता की पहचान में कठिनाईयाँ जो कि छाप की समस्या के साथ जुड़ी हैं, एक ही रचयिता के पदों को विभिन्न देश-काल में बनी संग्रह-लिपियों के परितुलन की दुष्करता इत्यादि अनेक समस्यायें इस प्रसंग में लेखिका ने गिनाई हैं।

६. ध्रुपद पदों के समीक्षात्मक अध्ययन की व्याप्ति या क्षेत्र

(क) अनेक समस्याओं के रहते हुए भी ध्रुपद के पदों के अनुसंधान में रुचि के अनेक आधार विद्यमान हैं।

(ख) ध्रुपद के पदों में विषय-वस्तु का वैविध्य तो आज तक प्रकाशित ग्रंथों के आधार पर सिद्ध हो चुका है। साहित्यिक और भाषागत अध्ययन के अतिरिक्त सामाजिक-धार्मिक पृष्ठभूमि, मुगल काल में हिन्दू और मुसलमानी संस्कृति का मिश्रण, मुसलमानी दरबारों में नियुक्त हिन्दू कलाकार और राजसभाओं में नियुक्त मुसलमान कलाकार की कार्य-प्रणाली इत्यादि, भारत के मध्य-युगीन संगीत के विषय में जानकारी, ये सब कुछ अध्ययन के विषय बन सकते हैं।

ध्रुपद और नृत्य

डॉ० प्रेमलता शर्मा

भूमिका

गीत, वाद्य और नृत्य– इन तीनों के समुच्चय को संगीत संज्ञा देने का इतिहास प्राय: १००० वर्ष का है, किन्तु फिर भी आज हमारी धारणा यही है कि प्रत्येक गीत-प्रकार नृत्य के लिए उपयुक्त नहीं होता और कुछ विशेष गीत-प्रकारों का नृत्य के साथ सहज सम्बन्ध परम्परागत है। उदाहरण के लिए––कथक नृत्य के साथ ठुमरी, दादरा, ग़ज़ल जैसे गीत-प्रकारों का परम्परागत सम्बन्ध है। उसी प्रकार भरतनाट्यम् का जतिस्वरम्, वर्णम्, पदम्, तिल्लाना जैसे गीत-प्रकारों के साथ सीधा सम्बन्ध सर्वविदित है। जब कुछ गीत प्रकारों के साथ नृत्य के सहज सम्बन्ध को मान्यता दी जाती है, तब उसी मान्यता में यह बात भी अन्वित रहती है कि कुछ ऐसे गीत-प्रकार भी हैं, जो नृत्य से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। यों तो आज ठुमरी, दादरा, ग़ज़ल भी नृत्य से स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए हैं, किन्तु फिर भी कथक के साथ उनका परम्परागत सम्बन्ध स्वीकृत है। ध्रुपद के प्रसंग में आज सामान्य धारणा यही है कि नृत्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और इस धारणा का कारण निम्नलिखित तथ्य हैं :—

(i) आज यह धारण बनी हुई है कि ध्रुपद मर्दाना गाना है और इसके साथ नृत्य की कोई सम्भावना भी नहीं बनती। नृत्य के सहकारी गायन में जो लोच होनी चाहिए, वह ध्रुपद में कहां है, ऐसा समझा जाता है।

(ii) बन्दिश के पूर्व लम्बी आलापचारी और बन्दिश की प्राय: विलम्बित लय और सुदीर्घ नृत्य के लिए अनुकूल नहीं है।

(iii) आज ध्रुपद के साथ नृत्य का प्रयोग कहीं दिखाई भी नहीं देता।

ध्रुपद का नृत्य के साथ संबन्ध : मौखिक तथा लिखित साक्ष्य

जहाँ तक मौखिक परम्परा के साक्ष्य की बात है, हमें दो वयोवृद्ध महानुभावों से यह सुनने को मिला है कि उन्होंने स्वयं ध्रुपद के साथ नृत्य-प्रयोग देखा था। नेपाल के राजवंश में उत्पन्न संगीताचार्य स्व० श्री टी० एल० राणा बताते थे कि उनकी गुरु-माता को ध्रुपद के साथ नृत्य करते हुए उन्होंने स्वयं देखा था। इसका अर्थ हुआ कि नेपाल में प्राय: ५० (पचास) वर्ष पूर्व तक ध्रुपद-नृत्य प्रचलित था। प्रख्यात संगीत-शास्त्री और संगीत-रसिक स्व० ठाकुर जयदेव सिंह ने भी अपने बाल्यकाल में ध्रुपद के साथ नृत्य के प्रत्यक्ष दर्शन की बात बताई थी। अर्थात् यह बात प्राय: ८० (अस्सी) वर्ष पूर्व की होगी।

लिखित साक्ष्य की बात करें तो 'सहसरस', जो कि बख्शू के ध्रुपदों का शाहजहाँ के काल में संकलित रूप है, में अनेकों पदों में नृत्य की, 'पात्र' (नर्तकी) की बात आती है। ये पद क्योंकि ध्रुपद के हैं, अतः यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि जिस नृत्य का इनमें उल्लेख है वह ध्रुपदाधारित ही होगा। कुछ पदों के उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है :—

(१) लाल ही के रंग तू रँगी सो मत (सोभत) सुरेखा पात्र परोजा सुरंग।
बाल-सस अंक ज्यौं छके लोचन समीप रस सरोजा कुरग॥
ताल निरत संग यूँ ठगीं सब सौतें मिल एक भई मनो जादूरंग।
साहजहाँ मनरंजन मनो पतंग ओकल (?) रंग चली देखें अरूजा उरंग॥ ५४॥

(२) ध्रुपद नांचत गत बहुत और तरंग उपजैं बार-बार।
कत ना संभारी, मान पाई बहुत माँतन के तार-तार॥
जो तूँ कहत है सो तो बनत नाहीं, लै कुलट कर रहीं, सब बार-बार।
'साहजहाँ' की सौं बनत नाहीं, आपन तौ पान-पान मेर डार-डार॥ ७२॥

(१) लास तांडव निरत गावत सुधंग देसी परमान।
उरण तिरप लाग डाँट हिरमई तरसंज मान॥
तोइ कों सरसती प्रसन्न भई सौंपी विद्या कर अमान।
भाई तें साहजहान सकल तियन में राखत तेरोई मान॥ ९२३॥

ऊपर दूसरे पद में तो स्पष्ट ही ध्रुपद-नृत्य का उल्लेख है। तीसरे पद में लास्य, तांडव का सीधा उल्लेख है।

नृत्य-सहकारी ध्रुपद का स्वरूप

मौखिक परम्परा से उपरिलिखित साक्ष्य प्राप्त होने पर भी यह प्रश्न तो उठेगा ही कि नृत्योपयोगी ध्रुपद क्या ठीक वैसा ही होगा, जैसा कि आज हम गायन की महफ़िल में सुनते हैं या उससे कुछ भिन्न होगा। आज भी ठुमरी, दादरा और ग़ज़ल का स्वतंत्र गेय रूप और नृत्य-सहकारी रूप—इन दोनों में थोड़ा बहुत सूक्ष्म भेद दिखाई देता ही है। पहला भेद तो यही है कि नृत्य में अभिनय के द्वारा अनेक सहचारी भावों की व्यञ्जना का अवकाश रहने के कारण गीत के ध्रुव की जितनी अधिक आवृत्तियां उस प्रसंग में होती हैं, उतनी स्वतंत्र गेय रूप में नहीं होतीं। और भी, स्वर वैचित्र्य का विस्तार भी नृत्य-सहकारी गायन में स्वतंत्र गायन की अपेक्षा कुछ-न-कुछ कम हो जाता है। ठुमरी की ही बात करें तो नृत्य के प्रसंग में बन्दिश की ठुमरी जितने सहज रूप से अनुकूल रहेगी उतनी बोल-बनाव की ठुमरी नहीं। उसी प्रकार ध्रुपद जब नृत्य-सहकारी बनता रहा होगा तब उसमें रागालाप का संकोच, 'ध्रुव' की आवृत्तियों की प्रचुरता, लय-वैचित्र्य की नृत्तानुकूलता, लोच की प्रधानता इत्यादि अवश्यम्भावी होते होंगे।

नृत्य-सहकारी गान का संगीतशास्त्र के ग्रंथों में उल्लेख

(क) नाट्यशास्त्र

नृत्य-सहकारी गान के प्रसंग में पारम्परिक संगीत-शास्त्र में क्या उल्लेख मिलते हैं, उसका पुनरीक्षण यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा।

नाट्यशास्त्र में नृत्य-सहकारी गान का बहुत स्पष्ट उल्लेख पूर्वरंग में आसारित और बर्द्धमान गीतक के प्रसंग में है (ना० शा० ४, २८२-२९१) यों तो मद्रक आदि गीत-प्रकारों में भी नृत्य की सम्भावना का उल्लेख नाट्यशास्त्र में है (ना० शा० ४, २९२-३०२) किन्तु फिर भी अधिक स्पष्टता वर्द्धमान, आसारित के साथ नृत्य-प्रयोग के वर्णन में ही है। बर्द्धमान में ४ खंड या कण्डिकाएँ हैं, जिनके नाम हैं—विशाला, संगता, सुनन्दा और सुमुखी। इनमें क्रमशः ९, ८, १६, ३२ कलाएँ हैं और प्रत्येक कण्डिका से पहले क्रमशः ५,६,७,८, कला का उपोहन है। उपोहन की रचना निरर्थक अक्षरों से होती है, जिन्हें नाट्यशास्त्र में शुष्काक्षर कहा गया है। ये अक्षर चतुर्मात्रिक गणों में निबद्ध हैं। यथा—झण्टुम्, जगतिय, वलितक, दिगनिनि, तितिझल, कुचझल, तितिचा। पहले उपोहन के गान के समय प्रथम नर्तकी का प्रवेश बताया गया है। उसके साथ भाण्ड वाद्य की प्रधानता है। प्रथम कण्डिका के गान के समय नर्तकी अभिनय करती है और उस समय भाण्ड वाद्य अर्थात् अवनद्ध वाद्य गौण हो जाता है। अर्थात् उस पर वैचित्र्य नहीं उपजाए जाते। प्रथम कण्डिका पर अभिनय करने के बाद नर्तकी रंग के पिछले भाग में चली जाती है। उसका पूरा निष्क्रमण नहीं, किन्तु अग्रभाग से हट जाना ही यहाँ अभिप्रेत है। दूसरी कण्डिका से पहले गाए जाने वाले उपोहन में दूसरी नर्तकी का प्रवेश होता है। उस समय पुनः भाण्ड-वाद्य की प्रमुखता हो जाती है। दूसरी कण्डिका के गान के समय दूसरी नर्तकी अभिनय करती है और इसी बीच पहली नर्तकी अंगहार करती रहती है। दूसरी कण्डिका से जब पहली पर लौट कर उसकी आवृत्ति की जाती है, तब दूसरी ओर पहली नर्तकी मिलकर "पिण्डीबन्ध" अर्थात् सम्मिलित नृत्त-प्रयोग करती हैं। पहली कण्डिका पर पिण्डीबन्ध करके दोनों नर्तकियां रंग के अग्रभाग से हटकर अंगहार करने लगती हैं और तीसरे उपोहन के गान के साथ तीसरी नर्तकी का प्रवेश होता है। जब तीसरी कण्डिका पहली बार गाई जाती है तब तीसरी नर्तकी रंग के अग्रभाग में उस पर अभिनय करती है, फिर दूसरी तथा पहली कण्डिका की आवृत्ति तक तीनों नर्तकियों द्वारा पिण्डीबन्ध चलता रहता है चौथी कण्डिका के उपोहन के आरंभ होते ही तीनों नर्तकियां रंग के अग्रभाग से पीछे हट जाती हैं और चौथी नर्तकी का प्रवेश होता है। चौथी नर्तकी चौथी कण्डिका के प्रथम बार गायन के साथ अभिनय करती है और फिर तीसरी दूसरी और पहली कण्डिकाओं की आवृत्तियों में चारों मिलकर पिण्डीबन्ध करती हैं। इस प्रकार चार प्रकार का आंगिक प्रयोग इस गीतक के साथ होता है। (१) उपोहन के साथ प्रवेश (२) सार्थक पद पर अभिनय (३) पिण्डीबन्ध अर्थात् सम्मिलित नृत्त (४) शुद्ध अंगहार प्रयोग।

स्पष्ट है कि गीत के विभिन्न खण्डों की आवृत्तियां, प्रत्येक खण्ड से पूर्व उपोहन का प्रयोग—यह सब कुछ गीत-व्यवस्था नर्तकियों के क्रमशः प्रवेश, अभिनय, अंगहार पिण्डीबन्ध और आंशिक निर्गम के साथ जुड़ी हुई है अर्थात् पूरे गीत की परिकल्पना में अभिनय और नृत्त ओतप्रोत है।

अन्य गीत-प्रकारों के प्रसंग में भी नाट्यशास्त्र में आंगिक प्रयोग का जितना उल्लेख मिलता है, उसमें नृत्त और भाण्ड वाद्य की सहगामिता, सार्थक पद के साथ अभिनय, पुनः उसी गीत-खण्ड पर नृत्त की व्यवस्था दी गई है। इससे स्पष्ट है कि नृत्त में भाण्ड-वाद्य की प्रमुखता और अभिनय में सार्थक पद के गान की प्रमुखता की सहज व्यवस्था की परिकल्पना वहाँ है। इस व्यवस्था में गीत के विभिन्न खण्डों की आवृत्तियां निश्चित रूप से अन्वित हैं। इससे यह स्पष्ट समझ में आता है कि नृत्य-सहकृत गीत में स्वतंत्र गीत की अपेक्षा कुछ विशेष व्यवस्था आवश्यक होती है।

नाट्यशास्त्र के पूर्वरंग के प्रसंग में कुछ ध्रुवाओं का उल्लेख है, जिनके साथ सूत्रधार को रंग पर परिक्रमण आदि करना है। सूत्रधार की इस परिक्रमण आदि क्रिया को ठीक-ठीक नृत्य तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह तालाधीन गति अवश्य है। अतः पूर्वरंग के प्रसंग में पंचम अध्याय में उल्लिखित उत्थापनी, परिवर्तनी, अवकृष्टा (जिसे शुष्कावकृष्टा भी कहा है) अड्डिता आदि ध्रुवाओं को भी नृत्त-सहकारी गान-भेद माना जा सकता है।

(ख) **संगीत रत्नाकर**

संगीत रत्नाकर के नर्तनाध्याय में करण और अंगहारों का विस्तृत वर्णन करने के बाद कहा है (सं० र० ७, ८८८-८९१) कि बर्द्धमान, आसारित, पाणिका आदि गीतकों के साथ और पूर्वरंग के अंगभूत उत्थापनी आदि ध्रुवाओं के साथ करणों और अंगहारों का प्रयोग करना चाहिए। इस संक्षिप्त उल्लेख से भी यह स्पष्ट है कि नृत्य प्रयोग के लिए विशिष्ट गीत-प्रकारों की उपयोगिता मान्य रही है।

संगीत रत्नाकर के नर्तनाध्याय में ही आगे चलकर नृत्य की शुद्ध पद्धति (सं० र० ७, १२६०-१२७३ कख) के प्रसंग में यह कहा गया है कि पात्र (नर्तकी) के प्रवेश के समय तो विविध वाद्य-प्रबंध (अवनद्ध वाद्यों के लिए निर्मित प्रबंध) बजेंगे, फिर शुद्ध प्रबंधों (एलादि शुद्ध सूड) के गान के साथ अभिनय और नृत्य होगा। यह उल्लेख इस बात का सूचक है कि एलादि शुद्ध प्रबंध भी नृत्य के लिए उपयोगी समझे जाते थे। किन्तु यह निश्चित बात है कि जब उनके साथ नृत्य और नृत्त होता होगा तब गीत के विभिन्न खण्डों की आवृत्तियों की वह व्यवस्था जो कि उन प्रबंधों के स्वतंत्र गेय रूप में कही गयी है, अवश्य बदल जाती होगी। इस प्रसंग में गीत-प्रबंध (एलादि) और वाद्य-प्रबंध (यति ओता आदि) के सापेक्ष प्रयोग पर भी कुछ कहा गया है, जो अत्यन्त रोचक है। ऐसा कहा है कि कुछ लोग कहते हैं कि भाण्ड-वाद्यों के बिना भी यत्यादि वाद्य-प्रबन्ध प्रयुक्त हो सकते हैं। उस स्थिति में वाद्य-प्रबंध केवल मुख से बोले जाएँगे

अर्थात् उनकी पढ़न्त की जाएगी। आज भी कथक में नर्तक या नर्तकी स्वयं पढ़न्त करते हैं और भरतनाट्यम् में नृत्य-निर्देशक नटुवांगम् अर्थात् पढ़न्त करता है। जिन रचनाओं की पढ़न्त की जाती है उनकी अनुकृति तबला मृदंगम् जैसे वाद्यों पर भी प्रस्तुत होती है, किन्तु संगीत रत्नाकर (७, १२७२, ७३ कख) के संक्षिप्त उल्लेख की टीका में कल्लिनाथ का कहना है कि कुछ लोगों के मत में मुरज आदि वाद्यों के बिना केवल "मुख वाद्य" (पढ़न्त) के साथ भी नृत्त हो सकता है। यह भी कहा है कि कभी केवल गीत-प्रबन्ध और कभी केवल वाद्य-प्रबन्ध नृत्य या नृत्त की संगत करते हैं। ऐसा आज भी होता है। भरतनाट्यम् में जब नटुवाङ्गम् किया जाता है तब नृत्त ही होता है और गीत-प्रबन्ध उस समय थोड़ी देर के लिए रुक जाता है। कथक में तो बोलों की पढ़न्त के अनुसार नृत्त और ठुमरी आदि गान के साथ अथवा केवल तबले, लहरे के साथ अभिनय प्रयोग के इन दोनों अंगों को सर्वथा पृथक् रखा जाता है। संगीत रत्नाकर में कहे गए गीत और वाद्य के "एकैकशः" प्रयोग के ये दो प्रकार के उदाहरण आज भी प्रत्यक्ष हैं।

शुद्ध पद्धति के बाद संगीत रत्नाकर (७, १२७२-१३०१, क ख) में देशी पद्धति का वर्णन है जिसे गौंडली विधि नाम दिया गया है। देशी के अन्तर्गत गौंडली का सम्बन्ध नर्तकी से और पेरणी (सं. र. १३०१ ग घ १३२५ क ख) का नर्तक से है। इन दोनों में हम नृत्य के साथ गीत-वाद्य की व्यवस्था संक्षेप में देख लें तो हमारे प्रस्तुत विषय के लिए उपयोगी सामग्री अवश्य मिलेगी। आरम्भ में ही यह कहा गया है कि गौंडली उस पात्र का नाम है जो स्वयं गाती है और त्रिवली नाम के अवनद्ध वाद्ध को स्वयं बजाती है। कठिन अर्थात् उद्धत वाद्यप्रबन्धों को छोड़कर अर्थात् सुकुमार वाद्य-प्रबंधों के साथ एवं एलादि शुद्ध सूड प्रबन्धों को छोड़कर ध्रुवादि-सालगसूड प्रबन्धों के साथ लास्य-अंगों से (सर्वथा कोमल अंगों) से वह नृत्य करती है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि नर्तकी के द्वारा त्रिवली का वादन ग्राम्य दिखाई देता हैं, अतः वह ग्राह्य नहीं है। जो नर्तकी 'अशारीरा' (स्वाभाविक मधुर कण्ठ से हीन) हो वह गाती नहीं और उसे 'मूक गौंडली' कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो सुशारीरा हो अर्थात् उत्तम स्वाभाविक कण्ठ वाली हो वह स्वयं गायेगी भी। देखना यही है कि गान, वादन और नृत्त या नृत्य भी—इन सब को किस प्रकार एक साथ अथवा बारी-बारी से रखा गया है।

गौंडली का 'मण्डल' अर्थात् सहकारी गायक-वादक समूह कर्णाटदेशज कहा गया है। देश कोई भी हो, हमारे काम की बात तो गान, वादन, नर्तन के सन्निवेश की है। गौंडली नर्तकी की नर्तन-विधि को ही गौंडली विधि कहा गया है। सर्वप्रथम 'साम्प्रदायिक' (नर्तकी के साथ गाने, बजाने वालों का समूह) वाद्यों को 'समनाद' बनाकर अर्थात् ठीक से मिलाकर, गजर, निस्सारण जैसे वाद्य-प्रबन्धों को बजाते हैं और जब 'उपशम' (विशेष वाद्य प्रबन्ध) बजा चुकते हैं तब पात्र अर्थात् नर्तकी रंग पर प्रवेश करके पुष्पांजलि डालती है और फिर शरीर के वामांग, दक्षिणांग, दोनों के मिश्रण से विषमांग व पूर्णांग अर्थात् सामने के अंग इन सबको प्रकाशित करती हुई

अर्थात् पृथक् पृथक् दिखाती हुई सर्वांग नर्तन करती है। इस नर्तन के साथ गजर और उपशम वाद्य प्रबन्ध बजते हैं। अब तक एकताली ताल का उल्लेख है। अब अडुताल और निःसारू ताल का भी नाम आता है। अब रिगोणी, अवत्स, कवित जैसे वाद्य-प्रबन्धों के नाम आते हैं और पुनः क्रमशः इनके साथ नर्तक की बात कही गई है। अब तक भाण्ड वाद्य और नृत्त का सहयोग चल रहा है। यहाँ यह भी कहा है कि रिगोणी कभी ताल-नियम से रहित भी हो सकती है। यह बड़ी सूचक बात है। इन सब वाद्य-प्रबंधों के साथ नाना प्रकार से नृत्त चलने के बाद वाद्य अर्थात अवनद्ध वाद्य बन्द हो जाते हैं। अब वांशिक "स्थान" देते हैं अर्थात आज की भाषा में 'सुर' देते हैं और वंश के साथ गौंडली गाती है। स्थायी स्वर का उच्चारण करके चारों स्वस्थानों में आलप्ति करती है अर्थात् मन्द्र, मध्य, तार में संचरण करती हुई रागालप्ति करती है अथवा नर्तकी से भिन्न मुख्य गायिका आलप्ति करती है। ऐसा आशय लगता है कि नर्तकी यदि सुशारीरा हो तो वह मुख्या गायनी के साथ बारी-बारी से आलप्ति करती है और यदि अशारीरा या मूक हो तो केवल मुख्या गायनी आलप्ति करती होगी। इसके बाद सताल गीत होना है, अब तक तो अनिबद्ध आलप्ति थी। मण्ठ और प्रतिमण्ठ तालों को छोड़कर अन्य किसी भी ताल में गान होगा।

स्मरण रहे कि सप्त सालगसूड प्रबन्धों के नाम इस प्रकार हैं, जो कि तालों के नाम भी हैं—ध्रुव, मण्ठ, प्रतिमण्ठ, निःसारू, अडुताल, रास एवं एकताली। इनमें से मण्ठ, प्रतिमण्ठ तालों को छोड़कर शेष पाँच तालों को यहाँ ग्राह्य बताया है। जक्का नामक वाद्य-प्रबन्ध के मृदु वादन के साथ पूरा "ध्रुवक" गाया जाएगा, ऐसा कहा गया है। यहाँ ध्रुवक का अर्थ प्रबन्ध का ध्रुव नामक धातु ही समझना चाहिए। फिर यह भी कहा है कि ध्रुव नाम का खण्ड सतत गाया जाएगा अर्थात् बार-बार गाया जायेगा; उसके साथ मेलापक भी रहेगा। ध्यान देने की बात है कि मेलापक नामक धातु प्रायः निरक्षर आलप्ति से बना होता है, जिसका पारिभाषिक नाम "प्रयोग" है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ समय तक गीत का ध्रुव ही बीच-बीच में मेलापक डाल-डाल कर पुनः पुनः गाया जाएगा। यहाँ उद्ग्राह नामक प्रथम प्रबन्ध धातु को छोड़ दिया गया है, ध्यान देने की बात है। इस गायन के साथ "मन" नामक लास्यांग से नर्तन होगा। संगीत रत्नाकर (७, १२०६-१२१५ क ख) में दस लास्यांगों का वर्णन है और "मन" उनमें से अन्तिम है। इसका लक्षण यह दिया गया है कि गीतादि में जो स्थाय हो अर्थात् राग के जिस प्रकार से अवयव बनते हों उनमें लीन होकर जो नर्तन होगा वह "मन" नामक लास्यांग है। गौण्डली विधि में ऊपर लिखे गायन के साथ "मन" नामक लास्यांग से नृत्त होना है। इस नृत्त के बाद गीत वाद्य शान्त हो जाएँगे। अब विविध स्थाय अर्थात् अनेक प्रकार के रागावयव गाकर पुनः "ध्रुव-पद" को लेना है। ध्रुवपद का अर्थ यहाँ प्रबन्ध का ध्रुव नामक धातु ही है, हमारा विचाराधीन ध्रुपद नहीं। ये जो स्थाय बनाये जाएँगे, इनके बहुत से विशेषण दिये हैं। ऐसा लगता है कि इन स्थायों को बनाते-बनाते बार बार ध्रुवपद पर पहुँचना है। यहाँ वाद्य शान्त हैं और प्रबन्ध भी छोड़कर स्थाय-विधान करते हुए बीच-बीच में ध्रुवपद को लेते चलना है।

ये स्थाय कैसे होंगे इसके लिए कहा है कि कुछ तो गीत के ताल के अनुसार होंगे और वे गीताक्षर रहित होंगे। इससे यह समझ सकते हैं कि वे आकार में होंगे। कुछ गीत के अक्षर से युक्त होंगे, बहुत लम्बे नहीं होंगे, बहुत नीच (मन्द्र) नहीं होंगे, माधुर्य से भरे होंगे, रक्तियुक्त होंगे, तालयुक्त भी हो सकते हैं और ताल-हीन भी, किन्तु वाद्य तो बन्द ही हैं। इन स्थायों के विधान के बाद ध्रुवखण्ड पर आकर "कलास" करना होगा अर्थात् नृत्य खण्ड का समापन करना होगा। कलास पर आकर वादक वाद्य पर आघात करेंगे और नर्तकी चित्र की भांति स्थिर हो जाएगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ देर तक अवनद्ध बन्द थे और निबद्ध गीत भी बन्द था, अनिबद्ध रूप से वाद्य की संगत के बिना सताल अथवा अताल अनिबद्ध स्थाय-विधान किया गया और फिर बीच-बीच में ध्रुव खण्ड का पुनर्ग्रहण हुआ। इस स्थाय-विधान के साथ सुकुमार नर्तन भी चलता होगा, क्योंकि गीत के ध्रुव खण्ड को लेकर कलास करने की बात कही गई है और कलास नृत्य-खण्ड के समापन का ही नाम है। प्रत्येक कलास के समय नर्तकी चित्रवत् स्थिर हो जाएगी और वादक अपने-अपने वाद्यों पर आघात करेंगे। इस प्रकार वाद्य छोड़कर बीच-बीच में ध्रुवांश को पुनः पुनः लेते हुए सुकुमार नृत्य चलेगा। अब इसके बाद आभोग के साथ नृत्य होगा और इसके साथ वाद्य पूरे समय बजेंगे। यहाँ ओजस् प्रधान नृत्त कहा गया है। प्रौढचारी का प्रयोग कहा गया है। अन्त में वाद्य-साम्य के साथ नृत्य समाप्त किया जायेगा। ऐसा लगता है कि यह सब विधान ध्रुव नामक सालगसूड प्रबन्ध के लिए था, क्योंकि इसके बाद यह कहा गया है कि ध्रुव की भांति मण्ठ आदि प्रबन्धों के साथ भी इसी प्रकार नर्तन होगा। अन्तर केवल इतना ही रहेगा कि मण्ठ आदि प्रबन्धों में केवल ध्रुवखण्ड के साथ नर्तन होगा। इसका अर्थ कल्लिनाथ ने यह किया है कि ध्रुव खण्ड के साथ स्थाय-प्रयोग नहीं होगा, किन्तु हमें लगता है कि इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि इनमें आभोग के साथ नृत्य नहीं होगा। कल्लिनाथ ने यह भी कहा है कि जब ध्रुव-मण्ठादि सातों सालगसूड एक श्रृङ्खला में लिए जायेंगे तब ध्रुव प्रबंध के बाद के प्रबंधों में केवल ध्रुव खण्ड के साथ नर्तन होगा, उनमें स्थाय-प्रयोग नहीं होगा। किन्तु जब मण्ठ आदि प्रबन्धों में से कोई एक स्वतंत्र रूप से लिया जाएगा तब उसमें ध्रुव प्रबंध की भांति ही स्थाय-प्रयोग होगा। कल्लिनाथ के इस उल्लेख से यह सूचना मिलती है कि सातों सालगसूड प्रबन्धों को एक के बाद एक लेने की भी परम्परा थी और सबको स्वतंत्र रूप से भी लिया जाता था। मण्ठ-प्रबन्ध-सहकृत नर्तन में प्रारम्भ में मण्ठताल के साथ नर्तन होगा और बाद में एकताली ताल के साथ। शेष पाँच सालगसूड प्रबन्धों के साथ उनके स्वताल अर्थात् नाम से सूचित ताल में ही नर्तन होगा, ऐसा विधान है। जो कुछ भी हो, हमारा प्रस्तुत विषय गीत, वाद्य और नृत्य के सहकार की व्यवस्था है और उसके लिए गौंडली विधि में बहुमूल्य सामग्री है, इसमें कोई सन्देह नहीं। निष्कर्ष यही है कि उद्धत नृत्त के साथ उद्धत वाद्य प्रयोग, सुकुमार नृत्त के साथ सुकुमार वाद्य-प्रयोग, गीत प्रधान नृत्त के साथ वाद्य का अभाव, इस प्रकार बारी-बारी

से गीत और वाद्य की प्रधानता बनाते हुए नृत्त-प्रयोग का विधान है, जिसके मध्य में केवल आलप्ति के गान का ही स्थान रखा गया है।

गौंडली विधि के अन्त में कहा गया है कि इन सातों सालग गीतों के साथ द्रुतलयाश्रित नृत्त होगा। कल्लिनाथ का कहना है (सं. र. ७, १२९९-१३०० पर टीका) कि सालगसूडों के साथ लास्य-प्रधान नृत्त विहित है। यदि इस नृत्त में विलम्बित लय रखी जाये तो अत्यन्त मृदुत्व की प्रतीति होगी जो सामाजिकों को प्रीत नहीं कर सकेगी। यहीं पर मूल में यह भी कहा गया है कि ताण्डव नृत्य में विलम्बित लय विहित है। यहाँ भी कल्लिनाथ का कहना है कि ताण्डव उद्धत है और उसमें द्रुत लय रखने से उद्धत-तमता अर्थात् अति उद्धत की प्रतीति होगी जो कि इष्ट नहीं है। कल्लिनाथ ने यह बात समझाने का यत्न किया है कि सुकुमार नर्तन के साथ विलम्बित का और उद्धत नर्तन के साथ द्रुत का सहज सम्बन्ध होने पर भी यहां उसके विपरीत विधान क्यों किया गया है। उन्होंने यह दृष्टान्त दिया है कि नीले वस्त्र में लिपटा हुआ मोती और शुभ्र वस्त्र में लिपटा हुआ इन्द्रनील या नीलम जैसे अत्यन्त शोभित होता है, उसी प्रकार यहाँ विपरीत लय-विधान को अत्यन्त शोभाकर समझना चाहिए। यह अंश हमारे प्रस्तुत विषय के साथ सीधा सम्बन्धित तो नहीं है, किन्तु नर्तन के प्रसंग में अत्यन्त रोचक है। इसीलिए हमने इसे यहाँ समाविष्ट कर लिया है। गौंडली विधि के अन्त में यह विधान है कि ध्रुव से लेकर एकताली तक के सातों सालगसूडों के साथ नर्तन करके समाप्ति करना चाहिए।

पेरणी विधि में नर्तक के ये गुण बताये हैं—(i) जो पैरों में घुँघरुओं का जाल पहने हों (ii) जो सुशारीर हो (iii) जो पंचांग कुशल हो और (iv) जो ताल कला-लय-विचक्षण हो (v) सभाजन-मनोहारी हो। पंचाङ्ग का विवरण इस प्रकार है—(i) घर्घर अर्थात् घुँघरु के विविध प्रयोग में कुशलता (ii) विषम नृत्त में कुशलता (iii) भावाश्रय नृत्य में विचक्षणता (iv) कविचारक होना जिसका अर्थ यह हो सकता है कि उत्तम नायक के वर्णन-परक काव्य-सहकृत नृत्य में प्रवीणता (v) गीत अर्थात् सालग गीतों में कौशल। घुँघरु के प्रयोग के छः प्रकार कहे हैं जो हमारे प्रस्तुत विषयगत नहीं हैं। हमारे काम की बात है नर्तक के लिए सालग-गीतों के ज्ञान की आवश्यकता। गौंडली विधि की भाँति ही यहाँ भी रंग पर साम्प्रदायिक स्थित हैं। वे अवनद्ध वाद्यों पर गंभीर ध्वनि करते हैं। रिंगोणी, उट्टवण जैसे वाद्य-प्रबन्धों को बजाते हैं, तब विकृत वाणी और वेशभूषा वाला अट्टबोडक (जिसका सिर पूरा मुंडा हुआ है) प्रवेश करता है और हास्य रस में नृत्य करता है। उसके बाद पेरणी का प्रवेश है और उसके प्रवेश के समय रिगोणी और उपशम जैसे वाद्य प्रबन्ध बजते हैं। उनके साथ जब वह नृत्त कर चुकता है, तब अवनद्ध वाद्य शान्त हो जाते हैं। फिर तालधर अर्थात् मंजीरा वादक गारूशि, सरस्वती-कण्ठाभरण जैसे ताल बजाते हैं, मर्दल आदि वाद्य 'ताल' (मंजीरा) के समध्वनि बनते हैं अर्थात् वाद्य में वैचित्र्य न करते हुए केवल ताल के खण्डों को दिखाते हुए वाद्य पर ध्वनि उत्पन्न करते हैं। शायद इसमें आज के ठेके का भी बीज खोजा जा सकता है। इस प्रकार के वादन के साथ पेरणी घर्घर या घुँघरू के

विविध प्रयोग करता है। फिर सालगमूडों के साथ नृत्त करता है। यह नहीं कहा है कि वह स्वयं गाता है या अन्य गायक के साथ नृत्त करता है। इस नर्तन को गीत-नर्तन कहा है। इसके बाद प्रहरण नामक वाद्य-प्रबन्ध के साथ वह विषम नृत्त करता है और फिर आभोग वादन (वाद्य प्रबन्धों में भी गीत-प्रबन्धों की भांति उद्ग्राह, ध्रुव, आभोगादि खण्डों की कल्पना की गयी है, के साथ नृत्त करता है। फिर कविचार अर्थात् उत्तम नायक के वर्णन-परक काव्य पर नर्तन (अभिनय-परक) और भावाश्रय-नर्तन करता है। इस विवरण में केवल वाद्य के साथ नृत्त, वाद्य-वैचित्र्य को छोड़कर केवल ताल के साथ विशिष्ट घुंघरू प्रयोग, गीत के साथ नृत्त और अभिनय—इन सबका स्थान है। गीत का इसमें विशेष विवरण न होने के कारण हमारे प्रस्तुत विषय के लिए यह प्रत्यक्ष उपयोगी नहीं है।

(ग) भावभट्ट के ग्रंथ

ध्रुपद वार्षिकी के प्रथम अंक में आदिनाथ उपाध्याय के लेख में भावभट्ट के अनूप संगीतरत्नाकर और अनूप सगीतांकुश इन दो ग्रंथों में प्राप्त ध्रुपद का लक्षण उद्धृत किया गया है। उसे पुनः उद्धृत किये बिना यहाँ केवल एक बात का उल्लेख प्रासंगिक है और वह यह कि अनूप संगीतरत्नाकर में तो स्वतंत्र गेय ध्रुपद का लक्षण है और अनूप संगीतांकुश के नृत्याध्याय में ध्रुपदाख्य नृत्य के प्रसंग में पुनः "ध्रुपद" का लक्षण दिया गया है। पात्र अर्थात् नर्तकी ध्रुवपद गीत के साथ नर्तन करती है। सुकुमारांग विन्यास करती है और इसे ध्रुवपद नामक नृत्य कहा जाता है। इसमें कभी तो उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग—ये तीन धातु रहते हैं और कभी उद्ग्राह को छोड़कर केवल ध्रुव और आभोग, कभी आभोग को छोड़कर केवल उद्ग्राव और ध्रुव और कभी उद्ग्राह, आभोग दोनों छोड़कर केवल ध्रुव रहता है। गेय ध्रुपद में तो संगीत रत्नाकर के अनुसार (सं. र. ४, ११) उद्ग्राह और ध्रुव का रहना अनिवार्य है, मेलापक और आभोग छोड़े जा सकते हैं। दो धातु से कम धातु वाले प्रबन्ध की कल्पना वहाँ नहीं है। यहाँ नृत्त-सहकारी ध्रुपद के प्रसंग में केवल एक धातु अर्थात् केवल ध्रुव के प्रबन्ध की भी कल्पना है और दो धातुओं के प्रसंग में बारी-बारी से उद्ग्राह और आभोग इन दोनों के त्याग की संभावना स्वीकृत है। नृत्य-सहकृत ध्रुपद के प्रसंग में इन दोनों बातों का औचित्य सहज ही समझा जा सकता है। गेय और नृत्य-सहकारी ध्रुपद के अन्तर को भावभट्ट ने भलीभाँति उभार कर रखा है।

उपसंहार

शास्त्र परम्परा में नृत्त-सहकृत गीत के जो प्रमुख उल्लेख मिलते हैं, उनको देखने से यह स्पष्ट हुआ कि आसारित, वर्द्धमान जैसे गीत-प्रकारों में तो गीत खण्डों की आवृत्ति, उपोहन की व्यवस्था आदि पूरे तौर पर अभिनय और नृत्त के अनुरूप है। शुद्ध पद्धति में एलादि प्रबन्धों में ध्रुवादि खण्डों की आवृत्तियों का विधान नृत्य के अनुरूप अवश्य होता होगा और तब उन प्रबन्धों के स्वतंत्र गेय रूप में न्यूनाधिक परिवर्तन होता ही होगा। ध्रुपद के प्रसंग में आज हमें उसका गेय रूप ही उपलब्ध है।

नृत्य के साथ ध्रुपद का सम्बन्ध अवश्य रहा होगा, क्योंकि सालग-सूडों के साथ नृत्य की पद्धति का संगीत रत्नाकर में स्पष्ट उल्लेख मिलता है और ध्रुपद को सालगसूड प्रबन्धों से ही उत्पन्न माना जाता है। ध्रुपद के साथ नृत्य के सम्बन्ध की इस स्वीकृति मात्र से इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता कि जिस ध्रुपद के साथ नृत्य होता होगा उसका गान-विधान कैसा होगा, खण्डों की आवृत्ति कैसी होगी, आलप्ति का स्थान कहाँ और कितना होगा—इत्यादि। इन सब प्रश्नों के समाधान-रूप एक व्यवस्था हमें गौंडली विधि में मिली, किन्तु वही व्यवस्था ध्रुपद में भी ठीक-ठीक उसी प्रकार लागू होती होगी या नहीं, यह अनुसन्धान का विषय है। निष्कर्ष यह है कि आज यदि ध्रुपद-नृत्य का पुनर्निर्माण अथवा पुनरुद्धार करने का कोई प्रयास हो तो उन बातों पर अवश्य ध्यान देना होगा, जिनकी चर्चा इस लेख में उठाई गई है।

DHRUPAD AND DANCE

(Dr. Prem Lata Sharma)

Summary by the Editor

1. Introduction

Although song, dance and instruments are the three components of one performance known as *Saṅgīta*, some song-forms have been evolved with special reference to dance. In Bharatanatyam, *Jatisvaram*, *Varṇam*, *Padam* and *Tillānā* are the song-forms more or less specially related to dance; in Kathak, Ghazal, Thumri, Dadra have a special association with dance, although they are also established as independent vocal forms. As regards *Dhrupad,* the common notion today is that it has no relevance to dance, because (i) it is supposed to be a manly song-form that lacks the mellowness required for music accompanying dance, (ii) dance with *dhrupad* is not in vogue today.

2. Oral and written evidence of the relationship of Dhrupad with Dance

Oral evidence was available from late Shri T. L. Rana regarding an old tradition of dance performance by female dancers with *Dhrupad* which he witnessed in Nepal about 50 years ago. Similarly late Thakur Jaideva Singh used to speak of his having seen a few dance performance with *Dhrupad* in his childhood and this would take us back by 80 years. Written evidence is profusely available in *Sahasarasa* (a compilation of 1000 Dhrupad song texts composed by Bakshu, compiled in the Court of Shajahan in the mid 17th century) in favour of *Dhrupad* being the corpus of music for dance. In spite of this oral and written evidence, the question still remains as to what would have been the nature of *Dhrupad* music that could have accompanied dance, certainly it could not have been identical with the *Dhrupad* that we hear today on the concert platform. The elaborate *Ālāpa* and the improvisations in the composition set to *Tāla* do not seem to be relevant to dance.

3. Textual references in Saṅgīta Śāstra, regarding Dance-Music

(*a*) *Nāṭyaśāstra*

Very clear prescription of definite song-forms related to dance, is available in *Nāṭyaśāstra* in the context of *Vardhamāna* and *Āsārita* types of *Gītaka*. It is elaborately described how in thefour sections of the *Vardhamāna*, one female dancer is introduced in each section, how she does *Abhinaya* when the section concerned is sung for the first time and how the

dancer(s) who entered in the preceding section(s) joined her in presenting combined movement of pure dance, how variety of playing on the drums gets an upper hand during the entry of the dancer to the accompaniment of singing of non-sensical syllables, how *Abhinaya* becomes prominent when each section is being sung for the first time and how dancers combine in presenting pure dance during repetitions of the sections — all this is very clearly described. Thus the whole song-form is conceived with reference to dance. Much less elaborate description for dance with other song-forms is given there. This makes it very clear that the music related to dance requires some special arrangements that are not less relevant to music independent of dance.

(*b*) *Saṅgīta Ratnākara*

The chapter of dance in *Sangīta Ratnākara* has the following reference to specific music in the context of dance :

(i) The song-forms (that are already described in *Nāṭyaśāstra*) are recommended for dance.

(ii) In the context of *Śuddha Paddhati* as distinct from the *Deśī*, the eight *Śuddha Sūḍa Prabandhas* are said to be acceptable and *Abhinaya* and *Nṛtta* (pure dance) are described, to the accompaniment of those *Prabandhas*. As independent song-forms these *prabandhas* have been described to have a very strict procedure of repetitions of their different sections. But it is evident that when these *Prabandhas* are sung with dance, these strict rules of repetition would have to be relaxed in order to accommodate the requirements of dance.

(iii) *Deśī Paddhati* of Dance has been described into two parts viz. *Gauṇḍalī* which is performed by female dancers and *Peraṇi* performed by male dancers. Elaborate description of the content of performance on drums, *Ālāpa* (melodic elaboration) by the dancer herself or by her vocal accompanist who also is a woman not accompanied by dance. After this comes the rendering of *Sālaga Sūḍa Prabandhas*, there the constant repetition of the *Dhruvapada* part of the *Prabandha* is described. This is a requirement of dance. The *Dhruvapada* is again emphasized by interposing this repetitions with melodic variations.

(iv) *Peraṇī*,

In the *Peraṇī* dance the dancer is supposed to be proficient in singing the *Sālaga Sūḍa Prabandhas*. Then the text describes the content of performance on Drums and emphasis on drum, songs and dance in turns is described briefly.

(c) *Bhāvabhaṭṭa*

Bhāvabhaṭṭa has defined Dhrupad in two of his texts viz. *Anūpa Sangīta Ratnākara* and *Anūpa Sangītāṅkuśa.* In the latter text, he talks of *Dhrupad* in relevance to dance. This itself is clear evidence of the fact that two distinct versions of *Dhrupad* are accepted, one as an independent vocal form and the other as a form related to dance. In the form related to dance the number of sections of song could be reduced to one viz. *Dhruva*, but this is not acceptable in the independent song-forms.

4. Conclusion

On the basis of textual evidence it is obvious that when a song-form is described in the context of dance, it has another dimension added to its rendering and on that account, it becomes distinct from its independent rendering as a purely vocal form. This fact should be borne in mind while speaking of the relationship of *Dhrupad* with dance. *Dhrupad* that has evolved as an independent vocal form cannot be appropriate to dance without the required modifications.

ध्रुपद के पदों में "छाप" और उससे अद्भूत समस्याएँ

डा० प्रेमलता शर्मा

१ विषयावतरण

छाप, मुद्रा या भणिता की परम्परा सभी भारतीय भाषाओं के गेय पदों और मुक्तक काव्य में पायी जाती है। रचनाकार का नाम अंकित करने के अतिरिक्त स्तुत्य-देव, आश्रयदाता/नायक अथवा प्रिय/प्रिया और प्रबन्ध का नाम अंकित करने की व्यवस्था भी गेय पद की परम्परा में और किसी सीमा तक मुक्तक काव्य में है। यद्यपि हमारा प्रस्तुत विषय ध्रुपद के पदों में छाप या मुद्रा की स्थिति और उससे उठनेवाली समस्याओं का अध्ययन है, तथापि गेय पद में मुद्रांकन का संक्षिप्त इतिहास और उसके समानान्तर मुक्तक काव्य में इस परम्परा का इतिहास और स्वरूप भी हमारे अध्ययन के लिए उपादेय है।

२. गेय पद में मुद्रांकन का इतिहास (लक्षण ग्रन्थों में)

गेय पद में मुद्रांकन का सम्भवतः प्रथम उल्लेख कालिदास के मेघदूत में मिलता है। यथा—

> उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
> मद्गोत्राङ्कविरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
> तन्त्रीरार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्,
> भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥
>
> (मेघदूत, उत्तरमेघ, ८४)

"हे सौम्य (मेघ) वह (यक्षी) अपनी मलिन-वसन गोद में वीणा रख कर मेरे "गोत्र" के अंकन-सहित विरचित गेय पद को गाना चाहती है" "गोत्र" का व्यापक अर्थ वंशगत नाम है और संकुचित अर्थ व्यक्तिगत नाम। यक्ष का वंशगत अथवा व्यक्तिगत नाम अथवा दोनों नाम उस गेय पद में अंकित थे, जिसे यक्षी गाना चाहती थी। किन्तु यह कहना कठिन है कि वह नाम पद के रचयिता के रूप में था या "वर्ण्य" के रूप में। दोनों ही सम्भावनाएँ हैं। विरहिणी यक्षी ने प्रिय को समर्पित और उसके गोत्र से अंकित गेय पद की रचना की हो, यह सर्वथा संभव है अथवा वह यक्ष द्वारा विरचित उसके अपने गोत्र से अंकित पद को ही उसकी स्मृति में गाना चाहती हो, यह भी असम्भव नहीं है। जो भी हो, गेय पद में "नामांकन" अथवा "मुद्रा" का यह स्पष्ट उल्लेख है।

आज उपलब्ध लक्षण-ग्रन्थों में देखें तो नाट्यशास्त्र में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। उस ग्रन्थ में प्राप्त उदाहरणों (गीतक के पद, ध्रुवा के संस्कृत और पाकृत पद्य) में कहीं मुद्रा का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार लक्षण और लक्ष्य

दोनों का जो प्रतिपादन या अंकन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है, उसमें कहीं भी मुद्रांकन का कोई अस्तित्व नहीं है !

मतंग का बृहद्‌देशी पहला ग्रन्थ है जिसमें प्रबंध का खंडित निरूपण है और एला प्रबंध के प्रसंग में यह स्पष्ट उल्लेख है कि उसमें वर्णनीय और गाता अर्थात् पद रचयिता का नामांकन रहेगा। यह भी कहा है कि मतान्तर से केवल वर्णनीय का नामांकन ग्राह्य है। किन्तु इसका स्पष्ट संकेत नहीं है कि यह नामांकन प्रबंध के किस धातु अर्थात् खण्ड में होगा। वर्णैला के प्रसंग में भी गाता के नाम का अंकन विहित बताया गया है। दोनों उद्धरण क्रमशः इस प्रकार हैं।

(१) वर्णनीयस्य गातुश्च सा तु नामाङ्किता भवेत्।
वर्णनीयसमायुक्ता मते केषांचिदिष्यते ॥
(बृहद्‌देशी, ४३६ गघ-४३७ कख)

(२) गातृजननामधेयं वीरविलासादिवर्णनापूर्वम्।
(वही, ४७३ ग घ)

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रबन्ध देशी कोटि के अन्तर्गत है। मार्ग और देशी कोटियों का सर्वप्रथम उल्लेख बृहद्देशी में ही मिलता है। (श्लोक–१३, १४) और यह विभाजन बृहद्देशी के अधुना प्राप्त खण्डित पाठ में राग के प्रकरण में उभर कर सामने आता है, जबकि ग्राम-रागों को मार्ग में और उससे भिन्न कोटि के रागों को देशी में रखा गया है। मार्ग कोटि के अन्तर्गत गीतक का समावेश परवर्ती ग्रन्थों में है—किन्तु उसका निरूपण बृहद्देशी में प्राप्त नहीं है। प्रबंध के निरूपण के आरम्भ में "देशिकार-प्रबंधः" ऐसा उल्लेख मिलता है (श्लोक ३७६ का प्रथम चरण) इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्रबंध को देशी कोटि के अन्तर्गत रखा गया है।

संगीत रत्नाकर में प्रबंधाध्याय के आरम्भ में मार्ग और देशी के स्थान पर "गान्धर्व" और "गान" संज्ञाओं का प्रयोग है (सं० र० ४.१ गघ-४ कख)। यह स्मरणीय है कि गांधर्व और गान ये संज्ञाएँ नाट्यशास्त्र की हैं, जिनकी विशद व्याख्या अभिनवगुप्त ने की है। मार्ग और देशी संज्ञाएँ काफी बाद में बृहद्देशी में सर्वप्रथम आयीं। इन दोनों शब्द-युग्मों की अर्थ व्याप्ति ठीक-ठीक एक-सी नहीं है, किन्तु इस प्रसंग में शार्ङ्गदेव ने गान्धर्व और गान को मार्ग और देशी के समानार्थक ही रख दिया है। इस विषय की अधिक चर्चा हमारे लिए अप्रस्तुत है। हमारे काम की बात यहाँ यही है कि संगीत रत्नाकर में गान्धर्व को मार्ग के समकक्ष मानते हुए उसे "अनादि-सम्प्रदाय" कहा है और गान को देशी के तुल्य रखते हुए उसे वाग्गेयकार द्वारा रचित बताया है। जिसका सम्प्रदाय अर्थात् गुरु-शिष्य-परम्परा अनादि है, उसमें छाप का प्रश्न ही नहीं उठता। इसे वेद की भाँति अपौरुषेय समझा जा सकता है। वेद में अपौरुषेयत्व तो है किन्तु प्रत्येक सूक्त के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि का नामोल्लेख वहाँ छन्द और देवता के साथ अवश्य रहता है। किन्तु वह मन्त्र के शरीर का अङ्ग न बनकर पथक् ही रहता है। ऐसा कोई विधान गांधर्व और मार्ग में रहा होगा, ऐसा नहीं

लगता। कारण यह है कि जातियों और ग्राम-रागों के उदाहरण-स्वरूप जो गीत प्रकार "जाति-प्रस्तार" अथवा ग्रामरागों की आक्षिप्तिका के रूप में संगीत रत्नाकर और उसके पूर्ववर्ती भरत-भाष्य, कुछ अंश में अभिनव-भारती में भी मिलते हैं, उनमें कहीं भी रचयिता का नाम अंकित नहीं है, उन्हें अनादिसम्प्रदाय का उदाहरण माना जा सकता है। गान, जिसे देशी का समकक्ष मान लिया गया है, उसे वाग्गेयकार द्वारा रचित बताया है अर्थात् उसमें रचयिता के नामांकन को विहित माना जा सकता है।

देशी प्रबंध गेय की वह विधा है जो नाट्य से स्वतन्त्र है और जिसका प्रयोजन केवल देवाराधन नहीं है। नाट्य से स्वतन्त्र होकर जनरंजन के लिए जो गेय रूप लक्षणबद्ध हुए उनका सामान्य नाम प्रबंध था। उनके लक्षण-निरूपण के पूर्व नाट्य-शास्त्र में गीतक और ध्रुवा में से गीतक तो शुद्ध रूप से देवाराधन को समर्पित था और ध्रुवा, चाहे संस्कृत में हो या प्राकृत में, उसका प्रयोग या तो नाटक के पूर्व रंग में या फिर नाटक के उपरंजक अर्थात् नाटक के रंग को गाढ़ा करने वाले "गान" के रूप में विहित था। रचयिता का नामांकन देवाराधन की वेदतुल्यता के कारण गीतक में अनावश्यक या अग्राह्य था और ध्रुवा नाट्य की उपरंजिका होने के कारण उसमें रचयिता के नामांकन का स्थान बन ही नहीं सकता था। इसलिए देवाराधन और नाट्य—दोनों से स्वतन्त्र प्रबन्ध में ही नामांकन की संभावना सहज सिद्ध है। यहाँ एक रोचक तथ्य उल्लेखनीय है कि कुम्भा ने संगीतराज के गीतकोल्लास में गीतकों के देवस्तुतिपरक उदाहरण दिए हैं, किन्तु उन सब में अपना नाम अंकित किया है।

प्रवन्ध के लक्षणों में नामांकन अथवा मुद्रा के उल्लेख के इतिहास को देखने के लिए बृहद्देशी से आगे बढ़ें तो भरतभाष्य और मानसोल्लास संगीत रत्नाकर के पूर्व के ग्रन्थ हैं, जिनमें से भरत-भाष्य का पाठ अत्यंत भ्रष्ट एवं खडित होने के कारण उस पर यहाँ विचार नहीं किया गया है। मानसोल्लास में गद्य प्रबन्ध के लक्षण में वर्णनीय के नामांकन का उल्लेख है (१६.४.२४९)। उसी प्रकार दोधक में भी वर्ण्य के नाम का अंकन कहा गया है (वही० श्लोक २६४)। अंक-चारिणी में भी वर्ण्य के नामां-कन का उल्लेख है (वही० पृ० ४२ श्लोक ८)। गाता अर्थात गीत-रचयिता के नामांकन का भी उसमें यत्र-तत्र उल्लेख है। उदाहरण के लिए वर्तनी प्रबंध के लक्षण में गाता और वर्ण्य दोनों के नामांकन का उल्लेख है। उद्ग्राह में वर्ण्य के नामांकन की बात मानसोल्लास (१६.४.९९) में है और उसी प्रकार आभोग में "गीत नाम" की बात भी है (वही, १०१)। उदाहरणों की बात हम कुछ आगे चलकर करेंगे। स्पष्ट और विशद लक्षण की दृष्टि से संगीत रत्नाकर ही उपादेय सिद्ध होता है।

संगीत रत्नाकर में गाता, नेता और प्रबंध के नामांकन की बात कही गयी है और नामांकन का स्थान आभोग में नियत कर दिया गया है। एला प्रबन्ध में उद्ग्राह में सम्बोधन पद को ग्राह्य बताया है। कहना न होगा कि सम्बोधन वर्ण्य का ही संभव है। इसी प्रबन्ध में स्तुत्य का नाम ध्रुव में और वाग्गेयकार का नाम आभोग में अंकित करने को बात भी कही गयी है। यह बात अवश्य है कि सभी प्रबन्धों के लक्षणों में

नामांकन का उल्लेख नहीं है और यह भी सत्य है कि कहीं-कहीं आभोग का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कल्लिनाथ ने प्रायः सर्वत्र "अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्" इस न्याय से आभोग और उसमें गाता, नेता और प्रबंध का नामांकन विहित बताया है। जिन प्रबंधों पर अत्यंत संक्षिप्त टीका है, उनमें कल्लिनाथ ने अधिकांश स्थलों पर 'पूर्ववत्' अथवा ऐसा ही कुछ कहकर छोड़ दिया है, जिसके आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि वहाँ भी आभोग और उसमें नामांकन इष्ट है। केवल चार प्रबंध ऐसे हैं जिनके लक्षण में मूल में ही यह कह दिया गया है कि इनमें आभोग नहीं होता। अतः वहाँ नामांकन का प्रश्न ही नहीं है। ये प्रबन्ध हैं—ओवी, लोली, ढोल्लरी और दन्ती। रागकदम्ब प्रबन्ध में भी आभोग नहीं है। लम्भक में विकल्प से आभोग छोड़ने की बात है। आभोग रहित प्रबन्धों में नामांकन की बात नहीं है।

३. प्रबंध के उदाहरणों में मुद्रांकन

प्रबन्ध के उदाहरण सर्वप्रथम मानसोल्लास में मिलते हैं। इनमें सर्वत्र तो नहीं, किन्तु कहीं-कहीं सोमेश्वर अर्थात् गाता का नाम मिलता है। प्रायः सभी उदाहरण विष्णु-स्तुतिपरक हैं, अतः स्तुत्य का नाम तो सर्वत्र है। रही गायक और प्रबंध के नाम की बात, तो इसके उदाहरण बहुत कम संख्या में है। यथा—

(i) ....प्रभो नारायण। असौ परमेश्वर-देवविरचिता एला नादावती।
(१६.४-.०६)

(ii) ....देव दामोदर। सोमेश्वर-देव-विरचिता एला भद्रावती।
(वही, ११३)

(iii) नारायण नमोऽस्तु ते आ सामेश्वर-देव-विरचितेयमेलावती [रति] लेखा।
(वही, १२०)

(iv) ....राम। नमोऽस्तु ते आ सोमेश्वर-देव-विरचिता कामलेखेयमेला।
(वही, १२३)

(v)..................................वासुदेव। सोमेश्वरदेवविरचिता बाणलेखेयमेला।
(वही, १२६)

(vi)..................देव पीताम्बर।....आ सोमेश्वरदेवविरचिता चन्द्रलेखेयमेला।
(वही, १२९)

(vii)..................गोपीजनमनोहरं रामम्। आ चोलेश्वरसरस्वती
वदनाम्बुजमित्रम् गेया वि (हि) मदनावतिवर्णैला
(वही, १३६)

(viii)..........तं प्रणमामि दशरथनन्दनं केशवदेव नारायणम् आ
चोल्लइसरस्वती वदनतिलकं गायन्ति शशिलेखावर्णनम्।
(वही, १३९)

ध्यान देने की बात है कि (vii) और (viii) उदाहरण में गाता का नाम स्तुत्य के नाम के साथ समास में आया है। जैसे चोलेश्वर सरस्वती.........अथवा आ चोल्लइ-

सरस्वती····। बाद में देशभाषाओं में भी बहुत बार ऐसा हुआ है। जैसे 'सूर-स्याम'। गाता और स्तुत्य का नाम पृथक् रहने की स्थिति में "सूर कहे स्याम सुनो" जैसी पद-रचना होती है। सोमेश्वर के बाद जयदेव के गीत-गोविन्द का नाम आता है। गीत-गोविन्द के सभी गीतों में जयदेव का नामांकन है। प्रबन्ध का नामांकन गीत-गोविन्द में प्रायः नहीं है। स्तुत्य का नामांकन भी सम्बोधन के रूप में तो नहीं है, किन्तु समास अथवा व्यास दोनों में से किसी एक प्रकार से स्तुत्य का नाम आ ही गया है। यथा—
अष्टपदी–।

श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारम्
शृणु सुखदं शुभदं भवसारम्।
केशव ! धृवदशविधरूप, जय जगदीश। हरे।

अष्टपदी—२

श्रीजयदेवकवेरिदं कुरुते मुदम्।
मङ्गलमुज्ज्वलगीतं जय-जय देव हरे।

इस दूसरे उदाहरण में तो "मंगलमुज्ज्वलगीतं" के रूप में प्रबन्ध का नाम भी आ गया है। कुम्भा ने गीतगोविन्द की रसिकप्रिया टीका में इस अष्टपदी को हरिविजय मंगलाचार नाम दिया है।

४. मुक्तक काव्य में मुद्रा का इतिहास

संस्कृत के मुक्तक काव्य में कवि की मुद्रा प्रायः नहीं मिलती, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। यदि क्वचित् कहीं मुद्रा का प्रयोग हुआ हो तो वह सामान्य नियम के अन्तर्गत नहीं ही होगा। पाली में थेरी गाथा, जो कि हाल कवि से पूर्व का मुक्तक संकलन है, में गाथाओं में मुद्रा का प्रयोग मिलता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

तिस्से सिक्खसु सिक्खाय मा तं योगा उपच्चगुं।
सव्बयोग-विसंयुत्ता चर लोके अनासवा॥
(थेरी गाथा–५)

तिस्से युंजस्सु धमो हि खणो तं मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति निरयाह्मि समप्पिता॥
(वही–५)

पुण्णे पुरस्सु धम्मे हि चन्दो पन्नरसेखि।
परिपुण्णाय पंजा तमोक्खन्धं पदालनम॥
(वही–६)

प्रथम दो गाथाएँ तिस्से की और तीसरी पुण्णे की है। ध्यान देने की बात है कि यहां प्रथम चरण में ही कवि का नाम आ गया है। बाद में हिन्दी के मुस्तकों में भी दोहे के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, इस प्रकार किसी भी चरण में कवि का नामांकन मिलता है।

(i) **प्रथम चरण में छाप**

तुलसी ममता राम सौं, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार॥
(दोहावली, ९४)

(ii) **दूसरे चरण में छाप**

रुचै मागनेहि मागिबो, **तुलसी** दानिहि दानु।
आलस अनख न आचरज, प्रेम पिहानी जानु॥
(दोहावली. ३२७)

(iii) **तीसरे चरण में छाप**

खेती बनि विद्या बनिज, सेवा सिलिपि सुकाज।
तुलसी सुरतरु सरिस सब, सुफल राम के काज॥
(दोहावली, १८४)

(iv) **चौथे चरण में छाप**

हित सौं हित, रति राम सौं, रिपु सौं बैर बिहाउ।
उदासीन सबसों सरल, **तुलसी** सहज सुहाउ॥
(दोहावली, ९३)

इस प्रकार के असंख्य उदाहरण कबीर, रहीम आदि के दोहों में मिलेंगे। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि कवि का नाम दोहे के किसी भी चरण के आरम्भ में न होकर मध्य या अन्त में पाया जाता है। यथा—

पंचवटी वट विटप तस, सीतालखन समेत।
सोहत **तुलसीदास** प्रभु, सकल सुमंगल देत॥
(दोहावली–३)

सीतालखन समेत प्रभु, सोहत **तुलसीदास**।
हरषत सुर बरसत सुमन, सगुन सुमंगल बात॥
(दोहावली–२)

कवित्त, सवैय्या जैसे छन्दों में भी कवि की मुद्रा प्रायः सर्वत्र मिलती है, किन्तु वहां भी ऐसा नियम नहीं है कि अन्तिम चरण में ही नामांकन रहे। किसी भी चरण में चरण के आदि, मध्य अथवा अन्त में कहीं भी कवि की छाप लगाई जा सकती है। उदाहरण के लिए धनानन्द के कुछ पद्यांश प्रस्तुत हैं :—

("रसखान और घनान्द" शीर्षक से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संग्रह से)

(१) **सवैया**

(क) **प्रथम चरण के आदि में छाप**

घनआनँद जीवन मूल सुजान की कौधनहूँ न कहूँ दरसें।
(पृष्ठ ४५, संख्या–१९)

(ख) **तृतीय चरण के आरम्भ में छाप**

घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे।

(पृ० ४४, संख्या–१५)

(ग) **तीसरे चरण के मध्य में छाप**

सो सुधि मो हिय मै **घनआनँद** सालति केहूं कढ़ै न कढ़ाई।

(पृ० ४४ संख्या–१३)

(घ) **चौथे चरण के आदि में छाप**

रसखानि महा मधुरी मुख की मुसकानि करै कुलकानि कटा है।

(पृ० १८, संख्या ३९)

(च) **चौथे चरण के मध्य में छाप**

अब रूप की रौर परी **रसखानि** रहै तिय कोऊ न मांझ घरैं।

(पृ० १५, संख्या–१५)

इसी प्रकार कवित्त में भी असंख्य उदाहरण चारों चरणों के आदि, मध्य, अन्त की छाप के मिलते हैं। घनानन्द के प्रसंग में एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह कि उनके काव्य में बार-बार सुजान का नाम आता है और इसे प्रिय का नामांकन माना गया है। "घनानन्द" तथा "आनन्दघन" इन दो प्रकारों की छाप भी विद्वानों के लिए विचार-चर्चा का विषय रही है।

फ़ारसी में भी ग़ज़ल में कवि के नाम की छाप देने की प्रथा रही है, जो कि उर्दू में भी चली आई है। सामान्य रूप से अन्तिम शेर में कवि का नाम देने की प्रथा है, किन्तु इसका व्यतिक्रम भी कभी-कभी दिखाई देता है अर्थात कवि का नाम अन्त में न रहकर आदि अथवा मध्य में कभी-कभी आ जाता है। रुबाई और मसनवी में कवि के नाम के अंकन की प्रथा प्रायः नहीं है।

५. ध्रुपद के पदों में छाप और उससे जुड़ी समस्याएँ

ध्रुपद के पद सामान्य रूप से छन्दोविधान रहित होते हैं। इसका अपवाद है—धनाक्षरी या कवित्त, जिसके चार चरण ध्रुपद के गायन में चार खण्ड या तुक बन जाते हैं। प्रत्येक चरण की चार विदारियाँ चौताल के चार आवर्तन बन जाती हैं। ऐसे अनेक ध्रुपदों के उदाहरण पं० भातखण्डे की (क्रमिक पुस्तक मालिका-तृतीय खंड) "आत होंगे आदि प्यारे, भूखन ला रतनारे" इस प्रकार आरंभ हुआ ध्रुपद धनासरी या कवित्त का उदाहरण है। छन्द की प्रत्येक विदारो के पहले, तीसरे, पांचवें, सातवें अक्षरों को गुरु बनाकर आठ अक्षरों को बारह मात्राओं के चौताल में निबद्ध कर लिया जाता है। यथा —

आऽत होंऽगे आऽदि प्याऽरे,
भूऽख नऽला रऽत नाऽरे।

इस विषय का विवरण यहाँ प्रस्तुत नहीं है, क्योंकि कवित्त में कवि के नाम की छाप किसी भी चरण के आदि, मध्य या अन्त में हो सकती है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। प्रस्तुत बात यह है कि ध्रुपद की छन्दोहीनता, जो कि बैजू या बख्शू से प्रारम्भ होकर तानसेन से लेकर चिन्तामणि मिश्र तक चली आयी है, वही ध्रुपद की मुख्य धारा है और उसी का आकलन हमारा प्रस्तुत विषय है। इस धारा के समानान्तर, जयदेव के आदर्श पर भक्त कवियों की पदावली की धारा भी बड़ी प्रबल और समृद्ध रही है। किन्तु उसमें कवि-गायक का नामांकन बिना किसी अपवाद के सर्वथा "अन्तिम पद" में ही हुआ है और इसे ध्रुपद के आभोग के समकक्ष समझा जा सकता है। उस धारा में छाप की समस्या केवल एक पहलू में उपस्थित होती है और उसके उदाहरण हैं—सूर अथवा सूर-स्याम अथवा सूरदास अथवा "सूरदास मदन मोहन" इस प्रकार समास अथवा व्यास के रूप में कवि-गायक का नाम सामने आता है। उसी प्रकार हरिदास अथवा हरिदास डागुर एक ही व्यक्ति थे या भिन्न ऐसी ही समस्याएँ उस धारा में हैं। और उनसे साहित्य के विद्यार्थी परिचित हैं। किन्तु जिस धारा की बात हम यहाँ उठा रहे हैं, उसमें एक अन्य पहलू बहुत प्रबल है और वह है—आश्रयदाता या स्तुत्य नायक का नामांकन। यह नामांकन और गायक का नामांकन दोनों मिलकर जटिल समस्याएँ खड़ी करते हैं। प्रबन्ध के नामांकन का तो इस धारा में प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि सभी गेय पद एक ही प्रबन्ध-नाम "ध्रुपद" के अन्तर्गत है। इसलिए छाप के दो ही प्रकार हमारे विचारणीय हैं—(१) गायक नाम और (२) आश्रयदाता का नाम। इन दो को लेकर जो प्रमुख समस्याएँ उठती हैं उनका विवरण उदाहरण-सहित नीचे प्रस्तुत है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उदाहरणों का संकलन डॉ० फ्रान्स्वाज़ देल्बुआ "नलिनी" के विशाल संग्रह में से लेखिका को मिला है और एतदर्थ उन्हें हार्दिक कृतज्ञता अर्पित है। समस्याओं की कोटियाँ निर्धारित करने में भी उनका सक्रिय सहयोग रहा है।

(१) एक ही पद में पाठ-भेद के साथ भिन्न-भिन्न छाप इत्यादि। इस समस्या के निम्नलिखित प्रकार हैं :—

(क) कई बार एक ही पद थोड़े बहुत पाठ-भेद के साथ भिन्न-भिन्न गायकों की मुद्रा से मिलता है। उदाहरण के लिए ऋत्विक् सान्याल ने मौखिक परम्परा के अनुसार निम्नलिखित पद तानसेन की छाप सहित दिया है :—

स्थायी : इन्द्र की आसवारी, पपिया की बतियाँ सुन देस देस खबरें लारी।

अन्तरा : गरज दमरु बाजे, ध्रुवा निशान बान
बदरा की फौज चली, बूंदन को तोर-कारि।

संचारी : दामिनी रंजक ओला-गोला तोप छुटत बिरहिन मारी।

आभोग : कहे **मियां तानसेन** अब कहा कीजिए
जिनके पिया बिदेस तिन को ये जंग भारी।

यही पद कुछ पाठ-भेद के साथ प्रभुदयाल मित्तल की पुस्तक "बैजू और गोपाल" में पृष्ठ ६६ पर पद संख्या ७२ में बैजू की छाप से दिया गया है।

(ख) निम्नलिखित पद में एक साथ कई गायक-नाम मिलते है जिनमें से यह निश्चय करना कठिन है कि पद का रचयिता कौन है।

नाद बिकट बिकट भेद याहू के भेद बिकट
अंतहू न पायो री।
ताल बिकट परन बिकट, अन्तहूं न पायो री ॥ १ ॥
गायन गुनी बिकट विद्याधर मुनी बिकट जोगी
जंगज जिन जोग हूँ न पायो री ॥ २ ॥
बिकट तो शिव सरस्वती बिकट बतायो री
सब गुनियन के हियमें समायो री ॥ ३ ॥
बिकट तो **नायक गोपाल** बिकट **बैजू बावरे**
बिकट **मीयाँ तानसेन** जिन गायके सुनायो री ॥ ४ ॥
(अनेक संग्रह, पृ० सं० ७४, पद सं० २३४)

इस पद के प्रसंग में यदि तीनों नामों को एक ही वर्ण्य कोटि में रखें तो मानना होगा कि इस पद में गायक को मुद्रा नहीं है। अर्थात् इन तीनों से भिन्न किसी गायक की यह रचना है, जिसका नाम अंकित नहीं है। यदि मुद्रा है तो सम्भावना तानसेन की ही है, क्योंकि उसके पूर्ववर्ती नायक गोपाल और बैजू तो उसका नाम पद में रख नहीं सकते थे।

(ग) ऐसे भी कई पद हैं, जिनके संचारी और आभोग लुप्त हो गए हैं अथवा चारों खण्ड उपलब्ध होने पर भी कोई मुद्रा नहीं है, किन्तु फिर भी गायकों में यह विश्वास है कि ये पद तानसेन के हैं। उदाहरण के लिए पं० ओंकारनाथ ठाकुर को संगीतांजलि पंचम भाग में राग दरबारी के अन्तर्गत निम्नलिखित ध्रुपद स्वर-लिपि-सहित दिया गया है। इसमें केवल स्थायी और अन्तरा है, किन्तु हमारे गुरुजी पं० ओंकारनाथ ठाकुर का कहना था कि यह पद तानसेन का है।

स्थायी—खरज रिखब गांधार, मध्यम पंचम धैवत निषाद,
ये सप्त सुर सुध नीके बुलाय गाय,
धुरपद मध सुनियों गायन गुनि।
अन्तरा—आरोहि अवरोहि जाकी उलट पलट होय,
निखाद धैवत पंचम मध्यम गान्धार रिखब ॥

पद के चारों खण्ड उपलब्ध होने पर भी उसमें कोई छाप न रहे, ऐसा भी कभी-कभी देखने में आता है। यथा—

परब्रह्म परमेश्वर अलख निरंजन
अवगत अविनाशी नरहर नारायन नरोत्तम।

दीननाथ दयाल दामोदर मधुसूदन चक्रपाणि
बनमाली गोबरधन-धारी श्याम पुरुषोत्तम ॥
केशव कृष्ण कमलनाथ कंसारि कालिय-मर्दन,
जदुपति जनार्दन सर्वोत्तम ॥

सओरी शौरि सारंगधारी, सनातन, समुद्र संचावन गरुडध्वज,
गर्वभंजन, गजराज उधारी कलप-द्रुम ॥
(तानसेन)

गोपेश्वर बैनर्जी कृत "संगीत चन्द्रिका" नामक ग्रन्थ (बर्दवान से १९२५ में द्वितीय संस्करण प्रकाशित) में ऊपर लिखा ध्रुपद पृ० ९-१२ पर स्वर-लिपि-सहित राग हेमन्त, ताल चौताल में है। संपादक ने छाप के अभाव में भी पद के नीचे तानसेन लिख दिया है, जिससे यही अनुमान होता है कि मौखिक परम्परा में यह विश्वास रहा होगा कि यह पद तानसेन का है।

(२) कई पद ऐसे हैं, जिनमें केवल आश्रयदाता का नाम अंकित है, किन्तु उसके आश्रित प्रमुख गायक को उस पद का रचयिता मान लिया जाता है जैसे :—

प्रातः उठ चलि री, पिय पे तूँ मुक्तमाल बिसार।
उलत मारग मधयोचित एरि,
मानो गजराज रहत आर।
जैसे मानो पवन लागे, कमल जाके
सुगंध मराल राधा ने (?) बहार।
जो देख **राजा रामचन्द्र** उलटे सो
पतरी राखिये जीय धार ॥ (तानसेन)

संगीत-चन्द्रिका में यह पद २५६-८ पर स्वर-लिपि-सहित राग देवगिरि और ताल चौताल में दिया गया है। केवल राजा रामचन्द्र की छाप के आधार पर इसे तानसेन का मान लिया गया है, क्योंकि प्रारम्भिक जीवन में तानसेन उनके आश्रित रहे थे। किन्तु इस प्रकार के अनुमान का आधार बहुत ही कच्चा है, क्योंकि राजा रामचन्द्र के आश्रित कई गायक रहे होगें और इसका क्या प्रमाण है कि उन सब में से तानसेन ही इस पद के रचयिता रहे होगें ? एक और उदाहरण देखें—

अचल चक्रवर्ती बघेलो चकत्ता नरेस
गुर गरेस बुधि सुरेस सकल बिद्या बिनानी।
छत्रपाट सिंहासन अबिचल रहों,
जो लों दधि सुमेर भुअ लौं सुलतानि ॥
सप्त दीप नव खंड दसौं दिसा जसु छायों,
षट दरसन निवास परम **ग्यानी**।
बीर भानु जूँ को नंद-करन (विशे)ष,
महाराजा **राजा रामचन्द्र** इन्द्र सनमानी ॥

आचार्य बृहस्पति की पुस्तक "ध्रुवपद और उसका विकास" में पृष्ट ३२२ पर "आश्रयदाताओं की मुद्रा से अंकित ध्रुवपद" शीर्षक में यह पद उद्धत है। मूलतः यह पद रामपुर रागमाला में है। डा० हरिहर निवास द्विवेदी ने अपनी पुस्तक "तानसेन: **जीवनी** व्यक्तित्व तथा कृतित्व" के पृष्ठ ३१-३२ पर यह उद्धृत करके यह कहा है कि तानसेन ने राजा रामचन्द्र की सभा और बाँधवगढ़ को छोड़ते समय अपने इस आश्रय-दाता की मंगल-कामना करते हुऐ इस पद की रचना की थी। "मंगलकामना" शीर्षक तो आचार्य बृहस्पति ने भी दिया है। कल्पनाधारित अनुमान का यह पद एक नमूना है।

भावभट्ट के अनूप संगीत विलास की पाण्डुलिपि में अकबर की छाप से निम्न-लिखित पद मिलता है, जिसे राग भैरव और ताल एकताल में रखा गया है।

अंजन लेख ताटंक निकट सोहत
मानो नील कंज नाल-सहित रवि-जुगल केलि कीनी।
अलकावलि बीच मुकताहल
मानौं तनी तनी समान सींव लीक दीनी॥
कुच चकवा कटि हारावलि बनि रही,
दिन होय तहाँ ते निसि मिलि दुख छीनो।
ऐसो सुन्दरि तेरे आबास **अकबर साहि** बस कीनी॥

इस पद को भी डा० हरिहरनिवास द्विवेदी ने (वही, पृ० ६४-६५) अकबर के अन्तः पुर का वर्णन-परक तानसेन-कृत पद मानकर इसके काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या की है। अकबर के आश्रित अन्य गायक भी रहे होगे और अकबर की छाप से प्राप्त कोई भी पद तानसेन द्वारा ही रचित होगा, ऐसा मानने का एक ही आधार संभव है और वह यह कि अकबर की राजसभा में तानसेन ही ऐसा गायक कवि था, जिसकी रचना मौखिक अथवा लिखित परम्परा में जीवित रहने योग्य थी। किन्तु इस आधार को पक्का नहीं ही माना जा सकता। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस पद में अकबर का नाम रचयिता की छाप के रूप नहीं अपितु वर्ण्य के रूप में आया है।

(३) आश्रय-दाता अर्थात् वर्ण्य या स्तुत्य का नाम अंकित करने के भी अनेक प्रकार हैं। कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं।

(क) कभी आश्रयदाता का नाम केवल उल्लिखित होता है और कभी आश्रय-दाता या स्तुत्य को संबोधित किया जाता है। पहले प्रकार का उदाहरण देखें—

गगनचर-गन ग्रन्ध्रप एक बान ग्यान गीत गुन नायक
गजधरे गौरी गिरि **सुगभीर** बिरहन औ गजदन्त बिनायक
गाऊँ राग सभा राजाधिराज की जाकौ **अकबर** नाँउ।
नर नरेन्द्र समान चकी **बकी** सी होति कबहु नाहि नैनि
रखत अष्ट सिद्धि नवनिधि पाऊँ।
एक एक संगिति प्रतीति लाछ लछण और एक नृत्य-कारी
जंजाली तण्डव समान कावि कारन को

हौंहि कावि करौं अरू हौंहि गाऊँ बजाऊँ।
बिनवे **व्यास** कोऊ सम नाहीनै अब **जलाल महमद** को
नित्त उठि आसीरवाद आऊँ।

(बीकानेर स्थित अनूप संस्कृत ग्रंथालय में सुरक्षित अनूप संगीत विलास की पाण्डु-लिपि संख्या ३३६७ के पत्रा ५१ बी पर यह पद "ध्रौपदोदाहरणानि" ऐसे उल्लेख के तुरन्त बाद मिलता है।

ऊपर के पद में गायक की मुद्रा व्यास है और अकबर का नाम प्रथम खण्ड के अन्त में सामान्योल्लेख के रूप में है, संबोधन के रूप में नहीं। उसी प्रकार अन्तिम खण्ड में अकबर का नाम जलाल महमद सम्बोधन के रूप में नहीं है। यह पद इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें अकबर के आश्रित तानसेन से भिन्न गायक व्यास की छाप है। स्तुत्य का नाम प्रथम खण्ड में देने का भी यह एक उदाहरण है, जो कि केवल आभोग में स्तुत्य का नाम अंकित करने का व्यतिक्रम है। कई बार स्तुत्य का नाम केवल वर्ण्य के रूप में होता है और उसे रचनाकार की छाप समझने का भ्रम हो सकता है।

अकबर को स्तुत्य बनाते हुए **चंचल** ससि नाम के किसी गायक की छाप से एक पद मिलता है, जो इस प्रकार है—

ए उत मान इत **साहि अकबर** दोउ दरस
जे देखत सोई होत पवित्र और
मनमज्जित सुमिरन के बर पावें गुपत आनन्द।
वे तिमिर-हर ये दुःख-भंजन जाके सौहें करि
जो सायां दीनों मकरन्द॥

उत सहस कीरन प्रगास कीनो, ये बुधि सरेष्ठ
परम ज्ञान मया धरें हर दन्द।
चंचल ससि कहाँ लौ अस्तुति करें काटन हार
रवि का फन्द॥

(बीकानेर स्थित अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित **अनूपसंगीतरत्नाकर** पाण्डुलिपि संख्या ३३५६ के पत्रा ४१ "ए" पर यह पद है। इसमें प्रथम विदारी में ही स्तुत्य अकबर का नाम है और अन्त में गायक के रूप में चंचल ससि का।)

व्यास की भाँति यह नाम भी अकबर के आश्रित तानसेन से भिन्न गायकों और पद रचयिताओं का अस्तित्व सिद्ध करता है।

सहसरस में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ आश्रयदाता मानसिंह अथवा बहादुरशाह का नाम बिना सम्बोधन के आया है। इन नामों को पाण्डुलिपियों में बदलकर साहजहाँ बना दिया गया है, किन्तु सर्वत्र 'साहजहाँ' के नीचे "भीम", या "बे" का अंकन है जो मूल नाम का सूचक है। उदाहरण के लिए—

भाग ताही के बड़े, जाके अंग सोहैं प्यारे।
मन सों मलीन बदन देखत सुक (शुक्र ?) जुगल तारे ॥
किशन गन्धूम रंग गोरी बहु देह जाकी, तेउ करहु जिन कारे ॥
साहजहाँ की मया जापर, तेई पावहिं सुख भारे ॥ ५०७ ॥
("साहजहाँ" के नीचे पाण्डुलिपि में "मीम" अंकित है)

आश्रय दाता का नाम सम्बोधन के रूप में देखें:—

जैसी प्रीत करत तैसी और निबाही।
सकल तियन में प्यार की दिशट, मो कूँ पूरन चाही।
ते सौतैं मो सों अकस कर न सकैं जो मोहि देख करत आही ॥
साहजहाँ पिया कायम रहो तुम, सहित साहो ॥ ५१० ॥
("साहजहाँ" के नीचे पाण्डुलिपि में "ब" अंकित है)

(ख) कभी किसी आश्रय-दाता के नाम के साथ ऐसे गायक का नाम अंकित मिलता है जो कि दो तीन शताब्दी पूर्व हो चुका हो उदाहरण के लिए:—

अति गत मंत्र गम् मम गम् मगं मम गम मग
ममग अति गत मन्त्र गाइया
लैलोक भूमे कमलरे हरिकोलरे सन्तोलरे मकरन्द
अइया उदध चन्दधरो मनमें अति गत मन्त्र गइया ॥
तइतक झुमणरे जुगलरे नतकार निरत अपार रे
अधार रे धरू गावत **नायक गोपाल** रे **राजा राम**
चतुर भए अइयारे रे रे अति गत मन्त्र गाइया।

(रागकल्पद्रुम प्रथमखण्ड पृष्ठ २२० पर मुल्तानी धनाश्री राग के अन्तर्गत यह पद है। रामपुर रागमाला में यही पद भीमपलासी राग में मिलता है।)

विचार करने की बात है कि नायक गोपाल और राजा रामचन्द्र के काल सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए यदि यह मुद्रा नायक गोपाल की है तो राजा रामचन्द्र बघेला नहीं हो सकते। या फिर राजा रामचन्द्र के आश्रित किसी गायक ने "नायक गोपाल" के गाने की रीति को निबद्ध किया हो और अपना नाम न लिया हो।

(ग) कभी एक ही गायक दो आश्रय-दाताओं का नाम एक ही पद में देता है। उदाहरण के लिए :—

साके कौं विक्रम, दैवै कौं बलि-करन, वेद सम जाहि ज्ञान,
बल कौ भीम, पेज कौं परसुराम,
बाचा कौं जुधिस्ठिर, तेज प्रताप कौं मान ॥
इन्द्र सम राज कौं, मूरति कौं कामदेव, प्रभा कौं मेरू समान।
तानसेन कहै सुनौ **साह अकबर**
राजन में **राजा राम** नन्दन-विरहभान ॥

(यह पद किंचित् पाठ भेद के साथ रागकल्पद्रुम खण्ड १ में पृ० १२३ पर है। यह रामपुर रागमाला में भी है और इसे नर्मदेश्वर चतुर्वेदी तथा प्रभुदयाल मित्तल ने भी राग कल्पद्रुम से उद्धृत किया है।)

डा० हरिहर निवास द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'तानसेन' में पृष्ठ ७० पर यह पद उद्धृत करके इसे तानसेन की निर्भीकता का उदाहरण माना है। तानसेन ने अकबर को सम्बोधित करके अपने पूर्व के आश्रयदाता राजा रामचन्द्र के विक्रम और प्रताप का खुलकर वर्णन किया। तानसेन की निर्भीकता का उदाहरण यह अवश्य हो सकता है। आश्रयदाता की दोहरी छाप का यह विशिष्ट उदाहरण है। और भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

(४) अन्त में केवल एक विशिष्ट उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि में देना है कि मौखिक परम्परा में कई बार पद-रचयिता की छाप बदलती जाती है तदनुसार पाठ-भेद भी हो जाता है। इसी उदाहरण में यह भी बात स्पष्ट होती है कि कभी-कभी किसी एक गायक की छाप रहने पर भी पद को भिन्न गायक की कृति माना जाता है।

पं० रामचतुर मल्लिक से निम्नलिखित पद श्रुतिलेख के रूप में पीटर मूलर द्वारा लिखा गया है। इसमें 'बिलास' अर्थात् बिलास खाँ की छाप है, किन्तु पं० रामचतुर मल्लिक का आग्रह है कि यह पद तानसेन का ही है:—

राग टोड़ी, ध्रुपद

मेरे तो अलह नाम को अधार।
जिन रच्यों संसार काम क्रोध लोभ तज्यों सब जंजार॥
जिन रच्यों अलख पुरुष **जमी** आसमान।
निरंजन निराकार साँचों क्यों न होवै एक कर्तार॥
जो काहु के लीजें भार सोइ शब्द क्यों नही होवें।
जाको नाम भजे **टरत** जंजार॥
प्रभु बिलास करि तन मन धन सब।
करि निछावर बार बार॥

यही पद किंचित् पाठभेद से मियाँ तानसेन की छाप के साथ रामपुर रागमाला में मिलता है जिसे आचार्य बृहस्पति ने ध्रुवपद पर अपनी पुस्तक में पृष्ठ ३७१ पर उद्धृत किया है। आश्चर्य की बात है कि यही पद रागकल्पद्रुम खण्ड १, पृष्ठ १०६ पर "मेरे मन माह हरि नाम जिन रच्यों" इस प्रकार आरम्भ हाता है और सभी फारसी के शब्दों के समानार्थक संस्कृत शब्द इसमें हैं। मुद्रा तानसेन की ही है। केवल अन्तिम खण्ड की तुलना ही यहाँ पर्याप्त होगी।

रामपुर राग माला	**रागकल्पद्रुम**
कहें **मियाँ तानसेन** पाक साफ रहिअें जाते जनम जीतब नाहिने बार बार	तानसेन कहे निरमल रहिए भजिए भगवान, मनुष जनम नहिं बारंबार

रागकल्पद्रुम के ही पाठ को प्रभुदयाल मित्तल, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी सरयू प्रसाद अग्रवाल आदि ने लिया है। प्रभुदयाल मित्तल ने अपनी पुस्तक 'तानसेन' में इस पद के फारसी-प्रधान पाठ को विलास खाँ की रचनाओं में रखा है (पृ० २०२-३)। और भी अधिक आश्चर्य की बात है कि प्रभुदयाल मित्तल की पुस्तक "बैजू और गोपाल" में यही पद "मेरे तो कृष्ण नाम अधार" इत पाठ से आरम्भ होता है। पूरा पाठ संस्कृत-बहुल है और छाप बैजू बावरा की है।

६. उपसंहार

इस प्रकार हमने ध्रुपद में गायक और आश्रयदाता के नामांकन के विविध प्रकारों और उनसे उठने वाली समस्याओं को संक्षेप में देखा। विभिन्न कारणों से यह विषय कितना जटिल हो गया है। इसका संकेत इस लेख से अवश्य मिल सकेगा और इस प्रसंग में कितनी सावधानता और सतर्कता अपेक्षित है इस बात का भी कुछ निर्देश मिल सकेगा, ऐसी आशा है।

केवल एक ही ध्रुपद-संकलन ऐसा है, जिसमें छाप को लेकर कोई समस्या नहीं है और वह है किताब-ए-नौरस, जिसमें बीजापुर के इब्राहिम आदिल शाह द्वितीय के ५९ ध्रुपद पदों का संग्रह है। प्रत्येक पद के आभोग में इब्राहीम की छाप है।

टिप्पणी

इस लेख में जिन पुस्तकों में से उद्धरण दिये गए हैं, उनके सम्पादन, प्रकाशन आदि का विवरण ध्रुपद वार्षिकी के प्रथम अंक में दी गई पुस्तक सूची में है। अतः उसे यहाँ दुहराया नहीं गया है। केवल 'अनेक संग्रह' का विवरण वहाँ नहीं है जो निम्नलिखित है--
गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, **अनेकसंग्रह**, सम्पादक, पं० रामलाल, कल्याण, बम्बई, १९१४।

SIGNATURE IN DHRUPAD AND THE PROBLEMS ARISING THEREFROM

(Dr. Prem Lata Sharma)

Summary by the Editor

The tradition of recording the signature of the author/patron/lover or beloved in a song-text or lyrical text is quite old. So far as song-text is concerned, Kālidāsa refers to the signature of the author or the beloved in the *Meghadutam* (stanza 84). The *Yakṣa* tells the *Megha* in this verse that his beloved the *Yakṣī* desires to send the song bearing his (of the *Megha*) name. This reference could be interpreted in two ways viz. either the *Yakṣī* had composed a song bearing the signature of her lover or she wanted to send a song composed by the *Yakṣa* himself bearing his signature as the author. As regards *Muktaka* or lyrical poetry, Sanskrit has no tradition of recording the author's signature.

Coming back to song-texts, the textual tradition of *Saṅgīta Śāstra* definitely refers to signature in song-texts from *Bṛhadeśi* onwards in the context of *Prabandha*. The two other texts mentioned in the original Hindi paper are *Mānasollāsa* and *Sangīta Ratnākara*. All these references give definite evidence of the fact that signature of the author and/or his patron and the name of *Prabandha* was prescribed to be recorded in the *Ābhoga* which was the last section of *Prabandha*. Signature of the patron or deity being eulogised in the *Prabandha* was also permissible in the first section of the composition, but this was rare. In general, the *Ābhoga* was reserved for all kinds of signature.

Dhrupad has inherited this tradition from *Prabandha* with the reservation that there was no place for recording the name of *Prabandha* here, because all the compositions belong to only one category viz. *Dhrupad*.

The illustrations of Sanskrit song texts in the *Prabandha* category are found in *Mānasollāsa* and Jaideva's *Gītagovinda*. Later Sanskrit song-texts composed on the pattern of Jaideva had not been considered to be pertinent to our study since they perpetuate the same tradition. The compositions found in both these texts bear the author's name in the last section; the question of patron's name does not arise there because *Someśvara*, the author of *Mānasollāsa* was himself a king and *Jaideva* did not compose for a royal patron. The name of Kṛṣṇa in various synonyms does occur along with Jaideva's signature and the name of Viṣṇu in its various synonyms

occurs also in *Mānasollāsa*; in the latter text, the name of the compositional pattern viz. *Prabandha* also occurs in a few cases.

The *Naṭyaśāstra* does not contain any reference to signature because illustrations of only two types of song-texts are given there. One type is that of *Gitakas* which are meant for propitiation of divine beings. Song-texts in this category are considered to be comparable to the Vedic hymns and hence the record of author's name would not have been considered to be acceptable. The second type contained *Dhruvās* in Sanskrit and Prakrit which were meant to be performed along with the *Sūtradhāra*'s movements in the *Purvaranga* or at appropriate junctures within the drama; the author's signature could evidently not form a part of these song-texts which were to be performed in the preliminaries of drama or in the actual drama itself.

So far as poetical compositions in the lyric form are concerned, Pali verses compiled in the *Therī-Gāthā* are perhaps the earliest examples. Medieval Hindi poetry has profuse illustrations of poet's signature or sometimes even the beloved's signature, in metres like *Dohā*, *Sawaiyyā* or *Kavitta*. The author's signature could occur in any one foot of a stanza and there too in the beginning, middle or end of the foot.

Dhrupad has inherited the tradition of recording the author's and patron's name or either of them mainly in the last sections. But the patron's name has sometimes also been given in the first or second section. The main problem in this context is that almost all the composers of *Dhrupad* were patronized by royal courts and whatever little material in written form is available in manuscripts, it is all based on the oral tradition. The signature, therefore, is not a very dependable data on which authors could be decidedly identified. The original Hindi article reproduces illustrations of various problems which could be briefly enumerated as follows :

(1) The same song-text is found sometimes with different signatures of author or sometimes one and the same song-text bears the names of more than one author or more than one patron.

(2) There are many song-texts which bear only the name of a patron for example, Akbar and these texts are generally accepted as compositions of the prominent musician patronised by that King. In the case of Akbar, all texts bearing his signature are generally accepted to have been composed by Tānsen. But this inference has no firm ground because there could have been many musicians in Akbar's Court who would have recorded Akbar's name in their compositions.

(3) The patron's name is sometimes used as an address and sometimes it is just mentioned in third person.

(4) Sometimes one and the same text bears the signatures of different authors and the text undergoes significant changes in order to match the name of the composer. A typical example has been cited where the text profusely using Persian words is with the signature of Tānsen and the same meaning is conveyed through a Sanskritised text and that bears the signature of Baijū.

Conclusion

The paper has tried to highlight the problems that are related to signature in the context of identification of authorship. Indiscriminate or casual attempt at identification on the basis of signature have been forewarned.

ध्रुपद में "ध्रुव"

डा० प्रेमलता शर्मा

१. भूमिका

'ध्रुपद' संज्ञा 'ध्रुवपद' का अपभ्रंश है, यह तो सभी जानते हैं। इस समास में 'ध्रुव' और 'पद'—ये दो घटक हैं। ध्रुव को पद के साथ रखकर कई प्रकार की व्याख्याएँ की जाती हैं, जिन सबमें ध्रुव का अर्थ तो स्थायी या अचल ही रहता है। आज हम ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, भजन आदि में जिसे स्थायी या टेक कहते हैं, वह ध्रुव का ही नामांतर है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ हम इसी ध्रुव का संक्षिप्त इतिहास देखने का यत्न करेंगे। यह अध्ययन ध्रुपद के साथ-साथ आज की ख्याल, ठुमरी आदि सभी गेय-विधाओं के प्रसंग में उपयोगी होगा, यद्यपि हम इसे ध्रुपद पर ही केन्द्रित रख रहे हैं।

२. 'ध्रुव' का इतिहास : प्रबन्ध से पूर्व

नाट्यशास्त्र में गीत के प्रसंग में 'ध्रुव' शब्द तो नहीं है, किन्तु 'ध्रुवा' है। 'ध्रुव' शब्द ताल-प्रकरण में 'पात' अर्थात् सशब्द क्रिया के प्रसंग में अवश्य आया है। ताल की प्रत्येक सशब्द क्रिया के आरम्भ में चुटकी बजाना नियत है और इसीलिए इस क्रिया को ध्रुव कहा गया है। उसकी चर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं है। पूर्वरंग के अन्तर्गत रंग पर सूत्रधार द्वारा दिक्पाल आदि के वन्दन के लिए परिक्रमण अथवा पीछे या आगे की ओर चलने के समय कुछ ध्रुवाओं के गान का विधान है। 'चतुर्थकार' (सूत्रधार और दो पारिपार्श्विकों के प्रवेश के बाद कुछ देर के लिए आने वाला पात्र) के प्रवेश के समय भी 'शुष्का ध्रुव' के गान का विधाग है। इन ध्रुवाओं के पदांश के उदाहरण भी नाट्यशास्त्र के पाँचवें अध्याय में मिलते हैं। इस प्रसंग में ध्रुवा संज्ञा की सार्थकता यह है कि पद में गुरु-लघु का क्रम नियत है और उस पद को गाने का काल भी कलाओं की गणना द्वारा नियत है। अर्थात् प्रत्येक ध्रुवा का छंद या गुरु-लघु-विधान देते हुए यह कहा गया है कि कितनी कलाओं में उसे गाना होगा। सामान्यतः कलाओं की संख्या ३२ रखी गई है। इस प्रकार गुरु-लघु-विधान द्वारा पद की छंदोगत रचना और कलाओं की संख्या नियत करके गेय की तालगत अवधि को नियत या ध्रुव बनाया गया है। इसीलिए 'ध्रुवा' नाम सार्थक है। नाट्यशास्त्र के ३२वें अध्याय में जिन ध्रुवाओं का प्रतिपादन है उनके सभी उदाहरण प्राकृत भाषा में हैं और वार्णिक वृत्तों में निबद्ध है। ताल-गत कलाओं का कोई नियत विधान वहाँ नहीं है। इसलिए वहाँ ध्रुवा का ध्रुवत्व अर्थात् नियतत्व केवल छन्दोविधान के आश्रित है। इस संक्षिप्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की ध्रुवा का हमारे ध्रुव के साथ कोई मम्बन्ध नहीं है।

आज हम जिसे ध्रुव या स्थायी कहते हैं, उसकी ध्रुवता इस बात में है कि गीत के प्रत्येक खण्ड के बाद उस पर लौटना आवश्यक होता है। वास्तव में आज स्थायी में प्रथम आवर्तन या विदारी को ही ध्रुव बना लिया जाता है, क्योंकि प्रत्येक बार स्थायी पर लौटने पर पूरी स्थायी नहीं गाई जाती। यह स्थिति ध्रुपद, धमार और मध्य-द्रुत ख्याल में एक-सी है अर्थात् स्थायी के प्रथम आवर्तन को ही प्रायः ध्रुव बनाया जाता है। विलम्बित ख्याल में लय काफी विलम्बित होने के कारण एक आवर्तन को ध्रुव बनाने का प्रसंग नहीं उठता। सम से २-१ मात्रा पहले और सम लेकर दो-एक मात्रा—इस प्रकार ३-४ मात्रा में स्थायी के प्रारम्भिक पद अथवा संक्षिप्त पद-समूह को ध्रुव बनाया जाता है और इस ध्रुवांश को मुखड़ा या मुख कहा जाता है। इस प्रकार ध्रुवत्व पूरे स्थायी में नहीं, अपितु स्थायी के प्रारम्भिक अंश में ही रहता है। विलम्बित और द्रुत ख्याल में क्रमशः आलाप और तान आदि करते समय थोड़ी देर के लिए अन्तरे के प्रथमांश को भी इस प्रकार का ध्रुवत्व प्रदान किया जाता है। इस प्रकार आज ध्रुव संज्ञा के साथ दो क्रियाएँ जुड़ी हुई हैं—एक तो निबद्ध गीत के स्थायी से बाद आने वाले खण्ड या खण्डों को गाकर स्थायी के प्रथमांश पर लौटने की क्रिया और दूसरी—आलाप-तान आदि अनिबद्ध प्रकारों को गा-गाकर मुखड़ा पकड़ने की क्रिया। यही स्थिति तत और सुषिर वाद्यों के वादन में भी है।

ऊपर कही गई दो क्रियाओं में से पहली वाली अर्थात् गीत के दूसरे, तीसरे चौथे आदि खण्डों को गा-गाकर प्रत्येक बार प्रथम खण्ड पर लौटने की क्रिया का पूर्व-रूप या बीज नाट्यशास्त्र में अवश्य मिलता है। वर्द्धमान गीत में चार खण्ड हैं, जिन्हें 'कण्डिका' कहा गया है। इन कण्डिकाओं में ऐसा विधान है कि दूसरी कण्डिका गाकर पहली पर लौटेंगे। फिर तीसरी कण्डिका गाकर पुनः दूसरी गाते हुए पहली पर लौटेंगे, फिर चौथी कण्डिका गाकर पुनः तीसरी और दूसरी को गाते हुए पहली पर लौटेंगे। इस प्रकार १, २-१, ३-२-१ और ४-३-२-१ कुल मिलाकर १० आवृत्तियां होती हैं, जिन्हें दश परिवर्त कहा गया है। इस परिवर्त-विधान में पहली कण्डिका को एक प्रकार का ध्रुवत्व मिलता है, यद्यपि वहाँ ध्रुव संज्ञा नहीं है। यह ध्रुव का आदिम रूप है, ऐसा कहा जा सकता है। बाद में प्रबन्ध में आकर ध्रुव का वह रूप सामने आता है जिसका कि आज के प्रयोग से सीधा सम्बन्ध है। प्रबन्ध के ध्रुव की चर्चा करने से पहले एक अन्य उल्लेख आवश्यक है।

गान-क्रिया में ध्रुव के ऊपर लिखे स्वरूप का एक अन्य पहलू भी है और वह यह कि ध्रुव में पूरे गीत की विषय-वस्तु और राग-ताल की अवतारणा हो जाती है। राग-ताल को थोड़ी देर छोड़कर विषय-वस्तु की बात करें तो गीत के ध्रुव के समानान्तर धारा, वेद और स्तोत्र साहित्य में मिल जाती है। यजुर्वेद (शुक्लयजुर्वेद संहिता, 'माध्यन्दिन संहिता, अध्याय ३४, मन्त्र १-६) के छः मन्त्र शिव संकल्प मंत्र कहलाते हैं और वे इसीलिए कि प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इस पद की आवृत्ति होती है। ध्यान देने की बात है कि जिसकी आवृत्ति होती है, वह पद प्रत्येक मन्त्र का अंतिमांश है, न कि प्रथम। "जो मेरा मन जाग्रत् दशा में दूर

तक पहुँचता है, जो सुप्त दशा में भी उसी प्रकार दूर जाता है, इत्यादि-इत्यादि—इस प्रकार का मेरा मन शुभ संकल्प से युक्त हो"—इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में मन का स्वरूपवर्णन करते हुए अन्त में मन के शिव-संकल्प होने की कामना की गई है। और शिव-संकल्प की कामना वाले पद को प्रत्येक मंत्र के अन्त में रखकर इस विचार की पुष्टि की गई है। पूरे छह मंत्रों का केन्द्र-बिन्दु यही पद है और उसकी आवृत्तियां उसे इस रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। इसी प्रकार स्तोत्र-साहित्य में भी कई उदाहरण मिलते हैं। यथा—शङ्कराचार्यकृत शिवापराधक्षमापन स्तोत्र के कई पद्यों में चतुर्थ चरण की आवृत्ति मिलती है—क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भोः श्रीमहादेव शंभो"। शङ्कराचार्य कृत देव्यपराध-क्षमापन स्तोत्र के भी कई पद्यों में अन्तिम चरण आवृत्त होता है—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"। श्री वल्लभाचार्य-कृत मधुराष्टक में प्रत्येक पद्य का अन्त इस चरण से होता है—"मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्"।

वेद और स्तोत्र साहित्य में ध्रुव का जो पाठ्य-रूप मिलता है, उसे गेय के समानान्तर रखकर देखें तो इस बात पर विचार करना होगा कि गेय में यह ध्रुव आज गीत के प्रथमांश के रूप में कैसे प्रतिष्ठित हो गया है। ध्रुव की इस यात्रा की कथा काफ़ी लम्बी है। उसका संक्षिप्त आकलन हम यहाँ करेंगे।

३— प्रबन्ध में ध्रुव : लक्षण-ग्रन्थों में

प्रबंध में ध्रुव का उल्लेख सर्वप्रथम मतंग-कृत बृहद्देशी में मिलता है। यह भी स्मरणीय है कि यही आज उपलब्ध संगीत-शास्त्र की परम्परा में प्रबंध का प्रतिपादक प्रथम ग्रंथ है। बृहद्देशी में प्रबंध के कोई उदाहरण प्राप्त नहीं हैं। सर्वप्रथम प्रबंध के उदाहरण सोमेश्वरकृत मानसोल्लास में मिलते हैं और उसके कुछ ही काल बाद का जयदेव का गीत-गोविन्द प्रबंध का सर्वाधिक सुपरिचित उदाहरण है। इन उदाहरणों की चर्चा से पूर्व प्रबंधों के लक्षणों में ध्रुव का स्थान देख लेना उचित लगता है।

प्रबन्ध-लक्षण के प्रसंग में तीन ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं—बृहद्देशी, मानसोल्लास और संगीत रत्नाकर। प्रबन्ध के चार धातु हैं—उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग और छह अंग हैं—पद, तेन, पाट, बिरुद, स्वर और ताल। बृहद्देशी में धातु और अंग कहकर अलग से कुछ निरूपण नहीं है। विभिन्न प्रबंध-भेदों के लक्षण करते समय पद, तेन आदि छहों अंगों के नाम यत्र-तत्र आये हैं, किन्तु उन्हें "अंग" संज्ञा देकर कहीं उनकी अलग से गिनती नहीं की गयी है। और धातु अथवा उसके भेदों का तो कहीं भी नामोल्लेख नहीं है। मानसोल्लास में धातुओं का उल्लेख भली भांति है और चारों धातुओं के लक्षण भी दिए हैं। यथा—

गीतमुद्ग्राह्यते तेन स उद्ग्राहः प्रकीर्तितः।
उद्ग्राहध्रुवयोः संधिश्लेषान्मेलापको भवेत्॥
पौनःपुन्याद्ध्रुवत्वाच्च ध्रुवकः परकीर्तितः।
ध्रुवस्याभोगकरणादाभोग इति संज्ञितः॥

अयं समस्तगीतेषु विधिः साधारणो मतः।
मेलापकस्थाभोग आहृतौ चापि नादृतौ ॥
(मानसोल्लास १६.४.९६ से ९८)

संगीतरत्नाकर में धातु का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :--

प्रबन्धावयवो धातुः स चतुर्धा निरूपितः।
उद्ग्राहः प्रथमस्तत्र ततो मेलापकध्रुवौ ॥

आभोगश्चेति तेषां च क्रमाल्लक्ष्माभिदध्महे ।
उद्ग्राहः प्रथमो भागस्ततो मेलापकः स्मृतः ॥

ध्रुवत्वाच ध्रुवः पश्चादाभोगस्त्वन्तिमो मतः।
ध्रुवाभोगान्तरे जातो घातुरन्योऽन्तराभिः ॥

स तु सालगसूडस्थरूपकेष्वेव दृश्यते ।
वातपित्तकफा देहधारणाद्धातवो यथा ॥

एवमेते प्रबन्धस्य धातवो देहधारणात् ।
तत्र मेलापकाभोगौ न भवेतां क्वचित्क्वचित् ॥
(संगीतरत्नाकर—४, ७ कख-११ गघ)

इन दोनों ग्रंथों के लक्षणों में उद्ग्राह को गीत के आरम्भ या उठान से जोड़ा गया, ध्रुव को ध्रुवत्व के कारण अर्थात् सर्वप्रबन्ध-प्रकारों में अनिवार्य होने के कारण और मानसोल्लास के अनुसार पौनःपुन्य अर्थात् पुनः पुनः गाये जाने के कारण यह संज्ञा दी गई। पुनः पुनः गाने की बात हम आरंभ में ही कर चुके हैं। मेलापक, उद्ग्राह और ध्रुव को मिलाने वाला है जो प्रायः "प्रयोगात्मक" अर्थात् निरक्षर आलप्तिमय होता है और यह उद्ग्राह और ध्रुव को मिलाने का काम करता है। आभोग ध्रुव का 'भोग' कराता है। ध्रुव का आ + भोग अर्थात् चारों ओर से अर्थात् सब ओर से 'भोग' कराने के कारण आभोग संज्ञा है। भोग कराने का यही अर्थ हो सकता है कि आभोग के कारण ही ध्रुव को पुनः पुनः लेने की क्रिया होती है। संगीत रत्नाकर में केवल सालगसूड प्रबंधों के लिए ध्रुव और आभोग के बोच अन्तर नाम के धातु का भी विधान किया गया है।

अन्तर को मिलाकर यद्यपि धातु-संख्या पाँच हो जाती है, किन्तु जहाँ सालगसूड़ों में अन्तर लगाने की छूट है वहाँ मेलापक वर्जित है। इसलिए वहाँ भी धातु-संख्या चार ही रह जाती है। वास्तव में वही अधिकतम संख्या है। न्यूनतम संख्या दो है, क्योंकि मेलापक और आभोग छोड़ने की छूट है। इन दो में से भी मेलापक को ही अधिक बार छोड़ा गया है, आभोग बहुत कम बार छोड़ा गया है। अधिकांश प्रबन्ध मेलापक को छोड़ कर त्रिधातुक हैं। वैसे उद्ग्राह और ध्रुव ही दो अनिवार्य धातु रह जाते हैं। यद्यपि एकधातुक प्रबन्ध का लक्षण-ग्रंथों में विधान नहीं है, तथापि

नृत्य-सहकारी ध्रुपद में केवल ध्रुव से ही गान का विधान भावभट्ट ने किया है, जिसकी चर्चा इसी अंक में "ध्रुपद और नृत्य" शीर्षक लेख में की गयी है। ख्याल-गायकों की मौखिक परम्परा में भी कोई-कोई विलम्बित ख्याल केवल स्थायी में ही निबद्ध होता है, जिसे वे लोग "अस्थायी" कहते हैं। इस प्रकार एक-धातुक प्रबंध भी कभी-कभी होता है और उस स्थिति में वह धातु ध्रुव ही हो सकता है।

४—प्रबन्ध भेदों में ध्रुव का निरूपण

संगीत रत्नाकर (४.२२ गघ-३३कख) में प्रबन्धों की मुख्य तीन कोटियाँ बनाई हैं :—(i) सूड़स्थ, (ii) आलि संश्रित (iii) विप्रकीर्ण। सूड़स्थ के पुनः दो भेद हैं—(i) शुद्ध सूड़, जिसके ८ प्रकार हैं और (ii) सालगसूड जिसके ७ प्रकार हैं। किन्तु सालगसूडों का निरूपण सबसे अन्त में किया गया है।

आलिक्रम के २४ भेद और विप्रकीर्ण के ३६ भेद हैं। इन भेदों का आधार है—धातु और अंगों की संख्या, 'गान-भेद' अर्थात् धातुओं की आवृत्ति का क्रम, ताल या छन्द का भेद, भाषा का भेद, रस-भेद, विषय-वस्तु-भेद इत्यादि। धातुओं की संख्या की व्यवस्था हम देख ही चुके हैं। छह अंगों में से पद और ताल – ये दो अनिवार्य हैं। शेष अंग विभिन्न प्रबन्धों में नियमानुसार प्रवृत्त होंगे। हमारे प्रस्तुत विषय के लिए इनमें से धातुओं की संख्या, प्रत्येक धातु का किसी भी प्रबंधगत अन्य धातुओं की तुलना में विस्तार, धातुओं की आवृत्तियों की व्यवस्था ही उपयोगी है। शेष लक्षण हमारे प्रस्तुत अध्ययन की परिधि में नहीं आते।

सर्वप्रथम एला प्रबंध को ही लें जो कि प्रबन्धों की प्रथम श्रेणी शुद्ध सूड के अन्तर्गत पहला प्रबन्ध है। एला प्रबन्ध में उद्ग्राह ११ या १२ खण्डों का बताया गया है। मतान्तर के अनुसार बारहवाँ खण्ड मेलापक माना गया है। जैसे भी हो, इतने लम्बे उद्ग्राह के पश्चात् ध्रुव का निवेश इस बात का संकेत करता है कि ध्रुव का गीत प्रथमांश नहीं ही है, उसके मध्यभाग से भी कुछ दूर जा पड़ा है। सोमेश्वर के मानसोल्लास में एला प्रबन्ध के जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें यह निश्चित करना कठिन है कि कहाँ तक उद्ग्राह है, कहां ध्रुव है और कहां से आभोग आरंभ होता है। लक्षण के आधार पर यह अवश्य स्पष्ट होता है कि गीत के १६ खण्डों में से बारह अर्थात् तीन चौथाई उद्गाह अथवा उद्ग्राह और मेलापक हैं, शेष चार खण्डों में से तीन पद का ध्रुव और एक पद का आभोग है। धातुओं की आवृत्तियों के बारे में यह कहा गया है कि पूरे सोलह पद दो बार गाकर ध्रुव में न्यास करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूरे ध्रुव की आवृत्ति अलग से नहीं करना है। सोलह पदों की आवृत्ति, जिसमें ध्रुव भी शामिल है, के बाद केवल तेरहवें पद अर्थात् ध्रुव के आरम्भिक पद के भी आरम्भ में अर्थात् उसके प्रथमांस में न्यास करना है। इस प्रकार ध्रुव के प्रथम पद में प्रथमांश की ही आवृत्ति पृथक् रूप से होगी और उसी पर न्यास होगा।

करण नामक द्वितीय शुद्ध सूड प्रबन्ध में स्वर पाट आदि अंगों के विविध विन्यास से आठ भेद हैं, जो हमारे लिए प्रस्तुत नहीं हैं। किन्तु गान-भेद अर्थात् धातुओं की आवृत्ति के अनुसार तीन भेद हैं जो प्रस्तुत अध्ययन में अत्यन्त रोचक हैं। ये इस प्रकार है :—

भेद नाम	**गान भेद**
(i) मंगलारम्भ	उद्ग्राह दो बार, ध्रुव-आभोग एक बार और फिर ध्रुव-उद्ग्राह एक बार। यहाँ अन्तिम आवृत्ति में उद्ग्राह से पहले ध्रुव हे और अन्त में उद्ग्राह पर न्यास है।
(ii) आनंदवर्द्धन	उद्ग्राह दो बार, ध्रुव एक बार, फिर ध्रुव का पश्चिमार्द्ध अर्थात् बाद का आधा भाग, फिर आभोग, ध्रुव और उद्ग्राह एक-एक बार अर्थात् आवृत्ति में उद्ग्राह और ध्रुव का क्रम उलट जाता है और न्यास उद्ग्राह पर है।
(iii) कोर्तिलहरो	ध्रुव के अर्द्ध के स्थान पर उद्ग्राह का द्वितीयार्द्ध गाया जाए, ऐसा मूल में उल्लेख है। कल्लिनाथ मौन हैं। कुछ ऐसा समझ में आता है कि इसका ध्रुव अपने आप में छोटा होगा और उद्ग्राह का द्वितोयार्द्ध गाकर उसे पूरा किया जाता होगा। शेष लक्षण आनन्दवर्द्धन की भाँति हैं। अर्थात् आभोग, ध्रुव और उद्ग्राह एक-एक बार गाये जायेंगे।

शूद्ध सूड़ प्रबन्ध के तृतीय भेद ढेंको में उद्ग्राह के पूर्वार्द्ध को दो बार और उत्तरार्द्ध को एक बार गाना है। मेलापक 'प्रयोग' से बना है अर्थात् निरक्षर आलापात्मक है। वह रह भी सकता है, नहीं भी रह सकता। ये दोनों यानी उद्ग्राह और मेलापक अताल हैं अथवा ढेंकिका या कंकाल ताल में हैं। दोनों ही विलम्बित हैं। ध्रुव और आभोग मध्य अथवा द्रुत लय में तथा अन्य ताल में हैं।

ध्रुव के तीन खण्ड हैं, जिनमें दो खण्ड एक-से 'धातु' अर्थात् स्वर-योजना में निबद्ध हैं और तीसरा खण्ड उच्च है। ध्रुव को दो बार गाना है और आभोग को एक बार। इसके बाद पूरे प्रबन्ध को इसी प्रकार पुनः एक बार गाना है और ध्रुव में अर्थात् ध्रुव के आरम्भ में न्यास करना है।

वर्त्तनी नामक चतुर्थ शुद्ध सूड़ प्रबन्ध-भेद में उद्ग्राह को दो बार, ध्रुव आभोग को एक बार गाना है और ध्रुव में न्यास करना है। यहाँ भी यह समझा जा सकता है कि ध्रुव के प्रथमार्द्ध को गाकर ही समाप्ति इष्ट है।

पंचम शुद्ध सूड भेद झोंबड नामक प्रबन्ध में उद्ग्राह का पूर्वार्द्ध दो बार, उत्तरार्द्ध एक बार, मेलापक यदि हो तो एक बार, ध्रुव दो बार, आभोग एक बार और फिर ध्रुव में न्यास करना है। ध्रुव में न्यास को पूर्ववत् समझा जाये।

षष्ठ शुद्ध सूड़ भेद लम्भक नामक प्रबन्ध में उद्‌ग्राह एक अथवा दो खण्डों का होगा जिसे एक अथवा दो बार गाना है। ध्रुव को दो बार गाना, आभोग वैकल्पित है। ध्रुव में न्यास करना है।

धातुओं की विभिन्न रचना और गान-भेद से इसके आठ भेद हैं।

भेद नाम	धातु भेद अथवा गान भेद
(i) आलाप लम्भक	ताल-शून्य उद्‌ग्राह है।
(ii) प्रलम्भ	उद्‌ग्राह के बाद उसी के 'मातु' (पद रचना) को विभिन्न धातु (स्वर-योजना) में बाँधकर ध्रुव बनाया जाये अर्थात् ध्रुव में नया पद नहीं होगा। उद्‌ग्राह की ही पद रचना को भिन्न स्वर-रचना में रखकर ध्रुव बनाया जायेगा।
(iii) भाग लम्भ	उद्‌ग्राह के प्रथम भाग को गाकर उसके द्वितीय भाग में ध्रुव के द्वितीय भाग को गाया जाये।
(iv) लम्भपद	एक ही ध्रुव तीन-चार बार भिन्न-भिन्न उद्‌ग्राह के साथ गाया जाये।
(v) अनुलम्भ	एक ही उद्‌ग्राह प्रति बार भिन्न-भिन्न ध्रुव के साथ गाया जाये।
(vi) उपलम्भ	प्रति बार उद्‌ग्राह और ध्रुव भिन्न-भिन्न गाया जाये। लम्भपद, अनुलम्भ और उपलम्भ ये तीनों ही आभोग रहित हैं।
(vii) विलम्भ	ध्रुव और आभोग दोनों न हों, केवल अनेक उद्‌ग्राह बिना धातु-भेद के मातु-भेद से गाये जायें अर्थात् एक ही स्वर-रचना में अनेक पद-रचनाएँ गायी जायें।
(viii) मतान्तर	लम्भक और झोम्बड दोनों में ध्रुव के उत्तरार्द्ध में ऐसा खण्ड रखना चाहिए जो कि उद्‌ग्राह के साथ तुल्य-धातुक हो अर्थात् उसी की स्वर-योजना में हो, किन्तु पद-रचना भिन्न हो। ध्रुव को दो बार गाकर फिर आभोग को एक बार गाएँ। पुनः ध्रुव को एक बार गाकर ध्रुव का आरम्भ करके न्यास।

शुद्ध सूड़ के सप्तम भेद, रासक प्रबन्ध में धातुओं की आवृत्ति झोम्बड को भाँति है।

शूद्ध सूड का अन्तिम और अष्टम भेद है—एकताली। इसमें उद्‌ग्राह दो बार, ध्रुव भी दो बार फिर आभोग और ध्रुव एक-एक बार गाकर न्यास—ऐसा मूल में कहा

गया है। कल्लिनाथ ने यहाँ कहा है कि आभोग ध्रुव एक-एक बार गाकर ध्रुव में न्यास होगा।

ध्यान देने की बात है कि धातुओं की आवृत्तियों के बारे में निश्चित विधान और इसी गान-भेद के आधार पर कई प्रबन्धों के उपभेदों का निर्माण इस बात का द्योतक है कि शूद्ध सूड़ प्रबन्धों में 'गान भेद' का सुनिश्चित विधान उनके लक्षण का अनिवार्य अंग था। आलिक्रम और विप्रकीर्ण प्रबन्धों में ऐसी बात नहीं है। आलिक्रम के २४ भेदों में से केवल दस में कहीं 'गान भेद' तो कहीं धातुओं के खण्डों का उल्लेख है। विप्रकीर्ण कोटि के ३६ प्रबन्धों में से केवल पन्द्रह में इसी प्रकार के संक्षिप्त उल्लेख है। सालगसूडों में से केवल प्रथम तीन में गान-भेद का उल्लेख है। इन सब उल्लेखों का सार नीचे प्रस्तुत है :—

प्रबन्ध नाम	**धातु-भेद अथवा गान-भेद**
(i) अलिक्रम वर्णस्वर	तेन पर न्यास, ऐसा मूल में उल्लेख है, किन्तु दोनों टीकाकार मौन हैं। कल्लिनाथ के अनुसार स्वर, पाट, पद और तेन में किन्हीं-किन्हीं से उद्‌ग्राह, किन्हीं-किन्हीं से ध्रुव और पद से आभोग है। अतः यह स्पष्ट नहीं है कि तेन पर न्यास के विधान से किस धातु को दुबारा गाकर समाप्ति करना इष्ट है।
(ii) गद्य	आरम्भिक ताल-रहित भाग को उद्‌ग्राह समझना होगा। दो पद वाले सताल भाग को ध्रुव समझना होगा, जिसे दो बार गाना है। फिर 'प्रयोग' से आरम्भ होने वाले सताल अन्तिम भाग को आभोग समझना होगा, जो कि विलम्बित है। आभोग के बाद पूरा प्रबन्ध ही पुनः गाना है, द्रुत लय में। फिर ध्रुवात्मक पद-द्वय में से प्रथम के आरम्भ भाग को विलम्बित लय में गाकर न्यास करना है (कल्लिनाथ)।
(iii) छन्द	पाट पर न्यास—ऐसा उल्लेख है। आर्या छन्द में प्रबन्ध निबद्ध है। उसके प्रथमार्द्ध में उद्‌ग्राह और द्वितीयार्द्ध में ध्रुव है जो पाट और विरुद से निबद्ध है। पाट पर न्यास का अर्थ है—ध्रुव के आरम्भांश पर समाप्ति, जो कि पाटों से बना है।
(iv) आर्या	ग्रह यानी उद्‌ग्राह पर न्यास। आर्या छन्द के प्रथमार्द्ध को दो बार और द्वितीयार्द्ध को एक बार गाना है। प्रथमार्द्ध उद्‌ग्राह द्वितीयार्द्ध ध्रुव है। अतः ग्रह पर न्यास का अर्थ है—आर्या के प्रथमार्द्ध के आरंभ यानी प्रथम चरण पर न्यास।

(v) गाथा — आर्यावत्

(vi) द्विपथक — स्वर पर न्यास कहा है। स्वर का स्थान प्रथम भेद में उद्ग्राह-ध्रुव दोनों में और तीसरे भेद में उद्ग्राह में है। दूसरे चौथे भेदों में स्वर है ही नहीं। अतः न्यास की स्थिति अस्पष्ट है। यह कभी तालहीन और कभी सताल होता है। अंगों के विन्यास के अनुसार इसके चार अन्य भेद हैं। यथा—

उद्ग्राह ‖	ध्रुव
१—स्वर	स्वर
२—"प्रयोग"	"प्रयोग"
३—स्वर	प्रयोग
४—पद	पद

दोधक छन्द के प्रथम पाद को एक बार, दूसरे को दो बार, कभी प्रथम द्वितीय को एक साथ एक बार, कभी दोनों को एक साथ दो बार और इसी प्रकार तीसरे-चौथे पद के आवृत्ति-भेद से अनेक भेद बनेंगे।

(vii) कलहंस — स्वर में न्यास कहा है। कलहंस छंद के प्रत्येक पद के अन्त में स्वर प्रयोग है। स्वर में न्यास का अर्थ है कि प्रथम पाद के अन्त में प्रयुक्त स्वरों में से कुछ को लेकर न्यास होगा।

(viii) घट — तेन पर न्यास, द्विपदी छन्द का पूर्वार्द्ध तेन से, जैसी द्विपदी में मतान्तर से उत्तरार्द्ध स्वरों से निबद्ध हो सकता है, वैसे ही यहाँ भी होगा। स्वर नहीं होगा तो उत्तरार्द्ध में पद होगा। पूर्वार्द्ध ही उद्ग्राह जो कि तेन-निर्मित है। अतः उद्ग्राह पर न्यास होगा।

(ix) रागकदम्ब — उद्ग्राह में न्यास अथवा ताल की दो आवृत्ति से न्यास। इसमें आभोग नहीं है। कल्लिनाथ के अनुसार जिस वृत्त में छोटा ताल लगाया जायगा, उसमें ताल की दो आवृत्ति से न्यास होगा, किन्तु जहाँ बड़ा ताल होगा, वहाँ ऐसा नहीं हो सकता। अतः उद्ग्राह से न्यास होगा। ताल के दो आवर्तन से न्यास बहुत स्पष्ट नहीं है। शायद ऐसा हो कि पूरा प्रबन्ध गाने के बाद दो आवर्तन तक केवल ताल बजता हो।

(x) पंचतालेश्वर — आलाप में न्यास। पाँच मार्ग-तालों में से प्रत्येक में पाँच-पाँच या छह-छह पद हैं, जिनमें से प्रत्येक की धातु भिन्न है। उस पद-पंचक या षट्क को दो बार गाना, फिर उसी

ताल से स्वर और पाट गाना / अर्थात् प्रथम अवान्तर प्रबन्ध चच्चत्पुट में प्रथमआलाप के बाद एक पद गाकर स्वर, पाट गाना, फिर दूसरा पद गाकर स्वर, पाट गाना इस प्रकार पाँच पदों को गाना। कभी पहले स्वर और कभी पहले पाट लिया जा सकता है। पंचम पद के बाद पाट गाकर स्वर गाना, फिर चच्चत्पुट की दो आवृत्तियों में पटह के पाट लेकर अन्तर गाना। फिर चाचपुट ताल में इसी प्रकार पाँच पद गाना और प्रत्येक पद को दो-दो बार गाना, फिर उसी ताल में स्वर और पाट और उसी की दो आवृत्तियों में हुडुक्का के पाटों में अन्तर गाना, फिर षट्पिता-पुत्रक ताल से पाँच पद और प्रत्येक पद की दो आवृत्तियों, शंख के पाटों से बना अन्तर। यहाँ भी शायद अन्य भेदों की भाँति अन्तर के पहले स्वरपाट गाने होंगे। फिर सम्पक्वेष्टाक ताल में छह पद जिनमें से प्रत्येक को दो-दो बार गाना है। पुनः पूर्ववत् स्वर पाट और कांस्य ताल के पाटों से उक्त ताल के दो आवर्तनों में अन्तर। फिर उद्घट्ट ताल में छह पद, जिनमें से प्रत्येक को दो बार गाया जायेगा, पूर्ववत् स्वरपाट और फिर मुरज के पाटों से ताल के दो आवर्तनों में अन्तर, इसके बाद आभोग द्रुत लय में होगा। नेता का नाम अन्तिम उद्घट्ट ताल के पदों में जो मान है अर्थात् एक पद का जो मान है, उस मान में होगा। फिर मंगल-वाक्य (तेन का ही समुच्चय) और अन्त में आलाप में न्यास होगा। कल्लिनाथ ने इसे महाप्रबन्ध कहा है। इसके अवान्तर पाँच प्रबन्ध हैं जो सभी त्रिधातु हैं, क्योंकि उनमें उद्ग्राह ध्रुव और अन्तर है। पाँच तालों में कुल मिलाकर स्वर, पाटादि सहित २७ पद हैं, पाँच अन्तर हैं, जिनमें दो-दो करके कुल दस पद हैं, पहले आलाप की गिनती इन सब पदों में नहीं है। पाँचों प्रबन्धों में धातुओं की व्यवस्था इस प्रकार है—

उद्ग्राह	ध्रुव	अन्तर	आभोग
१—प्रथम दो पद	बाद के तीन पद	दो पद	×
२— ,,	,,	,,	×
३— ,,	,,	,,	×
४—प्रथम तीन पद	शेष तीन पद	,,	×
५— ,,	,,	,,	×

पाँचवें अवान्तर प्रबंध के बाद आभोग है। यदि अन्तर को पृथक् धातु न मानें तो स्थिति निम्नानुसार होगी :—

उद्ग्राह	ध्रुव	आभोग
१—प्रथम आलाप	पांच पद	×
२—अन्तर	पांच पद	×
३—अन्तर	पांच पद	×
४—अन्तर	छह पद	×
५—अन्तर	छह पद	×

पांचवें प्रबंध के बाद वाला अन्तर ध्रुव और आभोग के मध्यस्थ रहेगा, सालगसूडों की तरह अन्तर को पृथक् मानें तो प्रत्येक अवान्तर प्रबंध त्रिधातु है, अन्यथा द्विधातु है और पूरा महाप्रबंध आभोग के सहित चतुर्धातु है। पूरा प्रबन्ध गाने के बाद प्रारम्भिक आलाप पर न्यास होगा अर्थात् अन्त में उस आलाप की आवृत्ति होगी।

विप्रकीर्ण

(i) श्रीविलास — स्वर से अन्त। इसमें पांच ताल और पांच राग हैं, प्रत्येक राग-ताल में स्वर से अन्त है। अतः अन्तिम राग-ताल के अन्त में जो स्वर होंगे उसी से अन्त होगा—ऐसा समझें तो अन्त में कहीं लौटना नहीं है। उद्ग्राह आदि तीन धातुओं का विभाजन राग-कदम्बवत् समझा जाये—ऐसा कल्लिनाथ ने कहा है।

(ii) त्रिपदी — छन्द के पहले दो पाद गाकर, फिर तीसरे पाद का थोड़ा-सा अंश गाकर, पुनः तीसरे पाद को पूरा गाकर, चौथे पाद को गाना। न्यास की कोई बात कहीं नहीं है।

(iii) चतुष्पदी — तेन पर न्यास। पूर्वार्द्ध में स्वर-युक्त उत्तरार्द्ध में तेन युक्त। सस्वर पूर्वार्द्ध उद्ग्राह, सतेन उत्तरार्द्ध ध्रुव और पदनिर्मित आभोग। अतः तेन पर न्यास का अर्थ है—ध्रुव पर न्यास।

(iv) षट्पदी — नाद पर न्यास अर्थात् स्थायी स्वर पर समाप्त करना है। वहाँ सरगम न कहकर नाद-रूप ही रखना है। इस प्रसंग में समाप्ति के लिए किसी धातु-विशेष का प्रश्न ही नहीं है।

(v) विजय — तेन पर न्यास। तेन से उद्ग्राह, पाट और पद से ध्रुव और पदान्तर से आभोग है। अतः तेन पर न्यास का अर्थ है उद्ग्राह पर न्यास।

(vi) चतुर्मुख	ग्रह पर न्यास। इसमें पहले दो पाद उद्ग्राह और दूसरे दो पाद ध्रुव हैं। पदान्तर से आभोग है। ग्रह में न्यास का अर्थ है, उद्ग्राह में न्यास।
(vii) सिंह लील (viii) हंस लील (ix) दण्डक (x) झम्पट (xi) कन्दुक	इन पाँचों में उद्ग्राह में न्यास।
(xii) त्रिभंगी	ताल-द्वैगुण्य करके न्यास।
(xiii) स्वरांक	स्वर पर न्यास। पद से उद्ग्राह, स्वर से मेलापक बिरुद से ध्रुव और पदान्तर से आभोग। अतः स्वर पर न्यास का अर्थ है—मेलापक पर न्यास।
(xiv) श्रीवर्द्धन	तालमान-द्वय से न्यास अर्थात् पूरा प्रबन्ध गाने के बाद केवल दो ताल मान बजेंगे, जिससे समाप्ति होगी।
(xv) चर्या	सर्वपादों की आवृत्ति अथवा केवल ध्रुव की आवृत्ति।

सालग सूड़

(i) ध्रुव	उद्ग्राह के दो खण्ड हैं, जिनकी धातु एक सी है। फिर एक खण्ड किंचिदुच्य है। ये तीनों खण्ड दो बार गाए जायेंगे। उद्ग्राह का पहला खण्ड ही ध्रुव है। फिर द्विखण्ड आभोग है। उनमें से पहले खण्ड के दो खण्ड हैं, जो एक-सी धातु वाले हैं और दूसरा खण्ड उच्चतर है, उसी में स्तुत्य का नाम अंकित है। मतान्तर से यह एक उच्च खण्ड ही आभोग में गाना चाहिए उद्ग्राह के आद्य खण्ड अर्थात् ध्रुव में न्यास करना है।
(ii) मण्ठ	उद्ग्राह नामक खण्ड में दो यति अथवा एक यति, फिर ध्रुव नामक खण्ड को दो बार गाना, फिर अन्तर वैकल्पिक है, उसे गाकर ध्रुव पर लौटकर आभोग एक बार जाना और ध्रुव पर न्यास।
(iii) प्रतिमण्ठ	ताल-भेद के अतिरिक्त सब कुछ मण्ठ की भाँति ऊपर लिखे

विवरण से निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं :—

(i) शुद्धसूड़ प्रबन्धों में गान-भेद अर्थात् धातुओं का आवृत्ति-क्रम विशेष रूप से नियमबद्ध है। अंगों का विन्यास वहाँ प्रधान नहीं है। आठ में से छह शुद्ध सूडों में केवल पद

और ताल दो ही अंग हैं। एक में स्वर जुड़ जाता है, और एक में छहों अंग हैं।

(ii) करण को छोड़कर शेष सातों शुद्धसूड प्रबन्धों में ध्रुव पर न्यास है।

(iii) मेलापक का ग्रहण आठ में से केवल तीन शुद्धसूडों में है और वहां भी वैकल्पिक है।

(iv) आलिक्रम प्रबन्धों में अंग-विन्यास विशेष रूप से विविधता का कारण बनता है!

(v) आलिक्रम और विप्रकीर्ण प्रबन्धों में कुल मिलाकर १३ प्रबन्ध ऐसे हैं जिनमें न्यास ध्रुव पर न होकर उद्‌ग्राह पर है। अर्थात् अन्त में ध्रुव की नहीं, उद्‌ग्राह की आवृत्ति विहित है। इससे यह संकेत मिलता है कि धीरे-धीरे ध्रुव का व्यापार अर्थात् आभोग गाकर उस पर लौटने की क्रिया उद्‌ग्राह में स्थानान्तरित होने लगी है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया की चरम परिणति दिखाई देती है सालग सूड़ों में से प्रथम "ध्रुव" प्रबन्ध में जहाँ कि उद्‌ग्राह के प्रथम खण्ड को ही ध्रुव बना दिया गया है अर्थात् ध्रुव की स्थिति गीत के मध्य में से उठकर आरम्भ में आ गई है। इसी परिणति के अनुसार भक्त कवियों के पदों में ध्रुव आरम्भ में है और ध्रुपद में भी प्रथम क्षंड ही स्थायी है, जिसके प्रथमांश को ही ध्रुवत्व प्राप्त होता है।

(vi) जितने भी प्रबन्ध-भेद संगीत रत्नाकर में हैं, उनमें से प्रायः सभी में उद्‌ग्राह ध्रुव की अपेक्षा या तो बड़ा है या उसके बराबर है। ध्रुव से छोटा उद्‌ग्राह नहीं के समान है। यह जानकारी मूल से अधिक कल्लिनाथ से मिलती है। धातुओं का विभाजन करते समय कल्लिनाथ यदि कोई निश्चित छन्द है तो उसके पूर्वार्द्ध को उद्‌ग्राह और उत्तरार्द्ध को ध्रुव कहते हैं, जिसके अनुसार दोनों की लम्बाई समान बैठती है। यदि कहीं पदों की संख्या पाँच है तो उद्‌ग्राह को तीन ओर ध्रुव को दो पद दिये गये हैं, यदि पदों की संख्या छह है तो दोनों को समान रूप से तीन-तीन पद दिये गये हैं।

(vii) आभोग एक प्रकार से प्रबन्ध का परिशिष्ट है। ऐसा इसलिए लगता है कि जहाँ पदों की संख्या निश्चित है अथवा कोई विशिष्ट छन्द है तो वहाँ छन्द के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध अथवा पदों की संख्या में उद्‌ग्राह और ध्रुव इन दो धातुओं का ही

स्थान बताया गया है। आभोग इस गिनती के बाहर है और उसे सदा पद-निर्मित बतलाया है। यह इसलिए होगा कि उसमें नामांकन होता है, अतः उसका पद-निर्मित होना न केवल उचित है, अपितु आवश्यक भी है। आभोग की लम्बाई इन सब स्थलों में प्रायः नहीं गिनायी गयी है। स्वर, पाट, तेन, बिरुद इन सब अंगों का विन्यास उद्ग्राह और ध्रुव में ही होगा। सालग सूडों में से प्रथम ध्रुव प्रबन्ध में बात कुछ बदली है। वहाँ आभोग के भी खण्डों का वर्णन है।

५. उपसंहार

पाठ्य काव्य और गेय पद, इन दोनों में क्रमशः ध्रुव के बीज और विकास क्रम को हमने लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में से देखा और ध्रुव किस प्रकार धीरे-धीरे गेय पद के मध्य से आदि में आ गया, यह भी देखा। ध्रुपद में प्रथम खण्ड में स्थायी इसी क्रम की परिणति का रूप है। प्रसंगवशात् अन्य तीन धातुओं पर भी कुछ कहा गया है। अभी इस सन्दर्भ में और भी अनुसन्धान सम्भव है। यह तो आरम्भ मात्र है।

THE DHRUVA IN DHRUPAD

(Dr. Prem Lata Sharma)

Summary by the Editor

Dhruva-pada is accepted to be the original word for *Dhrupad.* The first component of this compound is *Dhruva* which literary means stationary or unchanged. Today a synonym of *Dhruva* viz. *Sthāyī* is used for indicating the first section or sometimes even the first part of the first section of a song which is repeated after each succeeding section. The word *Dhruva* implies two things (1) that it is constant through-out song, i. e. to say it is a point of return after the completion of each section and (2) that it is an indispensable part of the song.

History of Dhruva before the advent of Prabandha

In *Nāṭyaśāstra* this word does not occur in the context of song-forms. But it does occur in the *Tāla*-system where *Dhruva* stands for the snapping of the middle finger and the thumb which precedes each sounded action (*Saśabda kriyā*). The word *Dhruvā* of *Nāṭyaśāstra* does not stand for a section of the song; rather it is a song with a text having a definite metrical pattern. The *Vardhamāna* type of *Gītaka* described in *Nāṭya-śāstra* has a pattern of repetitions which is designed to emphasize the first section. The repetition of the four sections is like this 1, 2-1, 3-2-1, 4-3-2-1. Thus the first section is emphasized by these repetitions.

There is another aspect of *Dhruva* which deserves to be noted and that is this; the thought-content of the song, its melody and *Tāla* (in most cases where the *Tāla* does not change during subsequent sections) are at once introduced in the *Dhruva.* This is done sometimes in poetry by repeating the fourth line of a stanza in the subsequent stanzas. This could be seen in the well-known *Śiva-Saṅkalpa Mantras* of *Śukla Yajurveda* (*Mādhyandina Saṃhitā*, Ch. 34, 1-6) "May my mind be with good intentions or determinations." This line is repeated as the fourth foot of all the six *mantras.* There are many *stotras* ascribed to Ādi Śaṅkarācārya where the fourth foot of a stanza remains constant in many subsequent stanzas. This is a way of emphasizing an idea in poetry, but the emphasis comes at the end of each stanza, whereas the point of emphasis in musical compositions today is in the beginning.

Dhruva in Prabandha (in the texts on *Lakṣaṇa*).

Although *Bṛhaddeśī* is the first text dealing with *Prabandha*, it does not enumerate the sections of *Prabandhas*, nor does it mention their names. Hence the *Mānasollāsa* of Someśwara is the first text that names and explains the four sections of a *Prabandha* viz. *Utgrāha*, *Melāpaka*, *Dhruva* and *Ābhoga*. The second section occurs very seldom, the first and third are indispensable and the fourth one could be dropped, though that is rarely done. It is notable that *Dhruva* is not the first but the third section and thus its position comes almost in the middle of the song. This implies that there was at least one, if not two sections preceding the *Dhruva* which would, so to say, prepare the ground for the *Dhruva* both poetically and musically. The emphasis on *Dhruva* was somehow maintained through the system of repetitions of the different sections. In most cases the rendering of a song has been prescribed to end at the *Dhruva* which means that the *Dhruva*, rather its first part has to be emphasized by ending the song with it.

The *Saṅgīta Ratnākara* gives definite prescription of repeating the sections of a *Prabandha* specially in the case of *Śuddha Sūḍa Prabandhas*. This indicates that repetition of sections had a very crucial role to play at least in its important varieties. Details of this prescription are summarised in the original Hindi paper and they could not be reproduced here.

Jaideva's *Gīta Govinda* is a typical example of *Prabandha* with a metrical text. There the *Udgrāha* is not as so long as it seems to be according to the description found in *Saṅgīta Ratnākara*. The *Padas* in regional languages that have been profusely composed for centuries after *Gīta-Govinda*, have somehow done away with *Udgrāha* and *Dhruva* has became the first section of the song. The *Ābhoga* was more or less like an appendix in the *Prabandha* scheme, but in the *Padas* known to us from *Gīta-Govinda* onwards, all the sections subsequent to *Dhruva* could be nothing but sub-sections of the *Ābhoga* which acquired a much bigger dimension. In *Dhrupad* there are four sections, the texts are non-metrical in most cases and the first section was given the name *Sthāyī* which could be taken to be the counterpart of *Dhruva*. *Antara* has been mentioned as an optional section in the *Sālaga Sūḍa Prabandhas*, its position being between *Dhruva* and *Ābhoga*. *Sañcārī* is a new name so far as the *Prabandha* tradition is concerned. The *Ābhoga* of *Prabandha* seems to have been split into two sub-sections and the first of the two has been given the name of *Sañcarī*. That that *Sañcārī* and *Ābhoga* constitute one musical unit is borne out by the fact that the repetition of *Sthāyī* is rendered only after completing of *Sañcārī* and *Ābhoga* and thus *Sañcārī* is not treated as an independent unit,

but the *Antara* is. The repetition of *Sthāyī* is mostly limited to its first part, i.e. to say the complete *Sthāyī* is not repeated every time.

Conclusion.

Although the *Sthāyī* of today is accepted to bear the analogy of *Dhruva* of *Prabandha*, yet it has to be remembered that *Dhruva* was supported by a very strong preceding section called *Udgrāha* which was again sometimes extended through *Melāpaka*, the *Sthāyī* of today has no such support and stands on its own. Virtually there are three sections in *Dhrupad* today because the last two form one single unit. And this is true also in the *Prabandha* system where a vast majority of *Prabandhas* is composed of three sections. The fourth could be added as *Melāpakā* or *Antara*, but that was optional in very limited cases. The voyage of *Dhruva* or *Sthāyī* in *Dhrupad* has a long history both in poetical and musical compositions. The present paper has indicated a few milestones, but many questions are bound to come up requiring further research.

BIBLIOGRAPHY ON DHRUPAD (II)

by Dr. Françoise DELVOYE, 'Nalini'

Introduction

The present Bibliography is an addendum to the 'Bibliography on *Dhrupad*' published in the 1986 issue of the *Dhrupad Annual* (pp. 95-115). It includes some recent publications, as well as various titles of books and articles with reference to *Dhrupad*, which were not included in the 1986 compilation; for practical reasons, all additional titles are classified alphabetically, under the categories used in the Bibliography mentioned above; the pages more relevant to Dhrupad have been quoted within brackets.

List of abbreviation

D. A. 86 : *Dhrupad Annual 1986*

I. C. : *Islamic Culture*

I. BOOKS AND ARTICLES WITH REFERENCE TO *DHRUPAD*

A. English :

Ansari, Mohd. Azhar,—'Amusement and games of the Great Mughals' in *I. C.*, XXXV (I), January 1961 : pp. 21-31. [Music : pp. 26-30].

Bhattacharya, Arun,—*Dimensions*, Philosophical Essays on the Nature of Music and Poetry, K. P. Bagchi & Co. on behalf of Uttarsuri, Calcutta, 1974. [pp. 20-29].

Halim, A,—'Music and Musicians of the Court of Shāh Jahān' in *I. C.*, XIX (4), October 1945 : pp. 354-360. [pp. 357-360].

Halim, A,—'Muslim Contribution to the Development of North Indian Music', in *The Muslim Year Book of India*, Bombay, 1948-1949 : pp. 107-121; reprint in *Essays on History of Indo-Pak Music*, by the author, Dacca, 1962 : pp. 76-99.

Halim, Abdul,—*Essays on History of Indo-Pak Music*, [collection of papers by A. Halim, reprinted from different journals], published by the author, Dacca, 1962.

Lath, Mukund,—'*Bhajan* as song : towards an oral stemma of Nāmadev's *padas*', in *Bhakti in Current Research*, 1979-1982, Proceedings of the Second International Conference on Early Devotional Literature in New Indo-Aryan Languages (St. Augustin 19-21 March 1982, West Germany), edited by Monika Thiel-Horstmann, Dietrich Reimer Verlag, Berlin, 1983 : pp. 225-236.

Rizvi, S. N. Haidar,—'Music in Muslim India' in *I. C.*, XV (3), July 1941 : pp. 331-340; 'Observations on Music in Muslim India' by H. G. Farmer, by the *Islamic Culture* Editor, *I. C.*, XVII (4), 1943 : p. 444.

II. BOOKS AND ARTICLES ON *DHRUPAD*

A. English :

Delvoye, Francoise 'Nalini',—'Bibliography on *Dhrupad*', in *D. A. 86* : pp. 95-115.

Dhrupad Annual 1986,—Dedicated to the Memory of Svati Tirumal, Editor, Prem Lata Sharma, published by All India Kashi Raj Trust, on behalf of the Maharaja Benares Vidya Mandir Trust, Varanasi, 1986.

Mithal, Akhilesh,—'Dhrupad. The wonderous Dagar tradition of music' in *India Magazine*, Vol. VI, July 1986 : pp. 58-65.

Mukherjee, Bimalendu,—'A Survey of Presentation of Dhrupad Style of Music through Instruments', in *D. A. 86* : pp. 1-15; Hindī summary by the Editor : pp. 16-19 : 'ततवाद्यों पर ध्रुपद शैली के 'गीत' की प्रस्तुति का सर्वेक्षण'.

Sanyal, Ritwik,—'The Dagar Tradition', *D. A. 86* : pp. 43-47; Hindi summary by the Editor, pp. 48-50 : 'ध्रुपद की डागर परम्परा'.

Sehgal, Sabina (Editor),—'Dhrupad—A Symbol of Continuity', Collector's issue on Dhrupad in *The Times of India*, February, 1986.

B. Hindī :

चौधरी, सुभद्रा,—'ध्रुपद के "पद'-पक्ष का अद्यतन अध्ययन, चुने हुए कार्यों की समीक्षा' *D. A. 86* : pp. 20-33; English summary by the Editor : 'Contemporary studies in the textual aspect of Dhrupad songs : a summary of selected works' : pp. 34-35.

द्विवेदी, हरिहर निवास, – 'ग्वालियरी ध्रुपद नृत्य और उसका रंगमंच', *D.A. 86*: pp. 51-66; English summary by the Editor : 'The Dhrupad dance of Gwalior and its stage' : pp. 67-68.

व्यौहार, अनिल विहारी,—'ध्रुपद-गायन की दरभंगा परम्परा', *D. A. 86* : pp. 36-40; English summary by the Editor : 'The Darbhanga Tradition of Dhrupad' : pp. 41-42.

III, SANSKRIT SOURCES WITH SPECIFIC MENTION OF *DHRUPAD* :

उपाध्याय, आदिनाथ,— 'भावभट्ट के ग्रन्थ और उनमें ध्रुवपद', *D. A.* 86 : pp. 69-92; English summary by the Editor : 'The works of Bhāvabhaṭṭa and the treatment of Dhrupad therein', : pp. 93-94.

V. *DHRUPAD* COLLECTIONS :

2. *Printed Collections*

A. English :

Sharma, Prem Lata,—'Sahasarasa' (A compilation of Dhrupad Texts ascribed to Bakshoo), Synopsis of Treatise, in *Indian Music Journal* vol VIII-IX-X, Nos 15 to 20, Madras, 1972-1973-1974 : pp. 41-48.

B. Hindī :

गंगविष्णु श्रीकृष्णदास, **अनेकसंग्रह** (विविध भांतिकी राग रागिणी एवं उत्तमोत्तम पदों का अपूर्व संग्रह) संग्रहकर्ता, पं० रामलाल, कल्याण, मंबई, 1914.

VII. BIOGRAPHIES :

'Tānsen'

A. English :

Gode, P. K.,—'A contemporary Sanskrit tribute to the musical talents of Tānasena, the greatest musician of Akbar's court, and its historical perspective', first published in *Journal of S. V. Ori. Institute*, Vol. VIII, pt. I, Tirupati : pp. 1-8; reprint in P. K. Gode, *Studies in Indian Literary History*, Vol. III, No. 22, P. K. Gode Collected Works Publication Committee, Poona 1956 : pp. 188-195.

Halim, A.,—'Mian Tansen', chapter VI, in *Essays on History of Indo-Pak Music*, published by the author, Dacca, 1962 : pp. 25-30.

Roychoudhary, Birendra Kishore,—'Tansen—Brightest Gem of Akbar's Court', in *Lakshya Sangeet*, Vol. IV, No. 4, 1958 : pp. 83-87.

B. Hindī :

अग्रवाल, सरयूप्रसाद,—**अकबरी दरबार के हिन्दी कवि,** लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, 1950. [पृ० 98-114]

चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार,—'कविवर तानसेन', **ऋतम्भरा** में, साहित्य भवन प्र० लि०, इलाहाबाद; पुनर्संस्करण, **सम्मेलन-पत्रिका,** भाग 33, अंक 89, ज्येष्ठ आषाढ़ सं० 2003, AD 1946 : पृ० 123-148.

द्विवेदी, हरिहर निवास,—**तानसेन, जीवनी, व्यक्तित्व तथा कृतित्व,** विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर, 1986.

माथुर, ईश्वरीप्रसाद,—**तानसेन**, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1942.

DISCOGRAPHY OF EP-LP RECORDINGS OF DHRUPAD MUSIC

Compiled by Peter-F. Muller

(All spellings, names and titles as given on record covers)

1. VOCAL MUSIC

A. Dagar Tradition

1. Ustad Rahimuddin Khan Dagar

(1) Ustad Rahimuddin Khan Dagar : *Dhrupad*
Side A : *Raga Todi*
Side B : *Raga Malhar*
HMV 7 EPE 1206

(2) Ustad Rahimuddin Khan Dagar : *Dhamar*
Side A : *Raga Kedar*
Side B : *Raga Behag*
HMV 7 EPE 1218

2. Ustad Nasir Moinuddin Dagar and Ustad Nasir Aminuddin Dagar

(1) 'The Music of India / Record III / Dhrupad-s'
Moinuddin and Aminuddin Dagar (Song)
Raja Chhatrapati Singh (Pakhavaj);
Suraiya Dagar (Tanpura)
Side A : *Asavarī (Ana dunaī)*, *Dhrupad*
Side B : *Bhairavi (Jagata Janani)*, *Dhrupad*
Dhamar Tala, Pakhavaj Solo
Recordings and commentary by Alain Daniélou
Unesco-Collection—A musical anthology of the Orient
Edited for the International Music Council by the International Institute for Comparative Music Studies and Documentation
Bärenreiter / Musicaphon BM 30 L 2018

(2) 'North India : Vocal Music/Dhrupad and Khyal'
Side A : *Dhrupad / Raga Kamboji*
Mohinuddin and Aminuddin Dagar (Voice)
Raja Chhatrapati Singh (Pakhavaj)
Suraya Dagar (Tanpura)

Recordings and cover notes by Alain Daniélou
Unesco Collection Musical Sources / Modal Music and Improvisations, VI—2
Philips 6586 003.

(3) 'Dagar Brothers'

Khansahib Nasir Moinuddin Dagar and Khansahib Nasir Aminuddin Dagar
Mridang Accompaniment : S. V. Patwardhan

Side A : *Alap / Raga Darbari Kanada*
Side B : *Dhamar / Raga Darbari Kanada*
Dhrupad / Raga Adana

HMV/EMI India EALP 1291 / First published in 1965

3. Ustad Nasir Aminuddin Dagar

(1) Ustad Nasir Aminuddin Dagar

Vithaldas Gujrati (Pakhawaj)
Alaka Nandy Ashoka Dhar Gopal Banerjee (Tanpura)

Side A : *Raga Mian-Ki-Malhar / Alap and Dhrupad*
Ayi Hay Ghata Umad Ghumad / Chowtal
Side B : *Raga Bhairavi / Alap and Dhrupad*
Shiva Adi Mada Anta / Jhamptal
Raga Bhairavi / Alap and Dhamar
Kunjana Men Khelata Hay Phag / Dhamar

Cover notes by Vijay Kichlu
EMI India EASD 1420 Stereo/First published in 1983

(2) Ustad Nasir Aminuddin Dagar

Vitthaldas Gujrati (Pakhawaj)

Side A : *Raga Bhatiyar / Alap* and *Dhrupad*
Shiva Shiva Shiva Shiva Shankar/Chowtal
Side B : *Raga Desh/Alap* and *Dhamar*
San Warey Rang Daar Diyo/Dhamar

Cassette EMI Supreme STCS 02B 6190 Stereo (1985)

4. Ustad Nasir Aminuddin Dagar & Ustad Zia Fariduddin Dagar

'Alap Dhrupad and Dhamar'
Ustad Nasir Aminuddin Dagar/Ustad Zia Fariduddin Dagar (Vocal)
Raja Chhatrapati Singh (Pakhawaj)
Alaka Nandi (Tanpura)

Side A : *Raga Bhimpalasi/Alap* and *Dhrupad*
Side B : *Raga Yaman/Alap* and *Dhamar*

Cover notes by N. A. Dagar and S. Dagar
Concert Hall SVS 2793

5. *Ustad Nasir Zahiruddin Dagar & Ustad Nasir Faiyazuddin Dagar*

(1) 'The Younger Dagar Brothers'

Nasir Zahiruddin Dagar, Nasir Faiyazuddin Dagar
Bithal Das Gujrati (Pakhawa)

Side A : *Raga Jai Jaiwanti / Alap*

Side B : *Raga Jai Jaiwanti / Dhrupad* in *Choutal*
"*Muraliya Kaise Baje*"
Raga Abhogi Kanada / Dhamar
"*Tu Kit Aaj Chali*"

Odeon S-MOAE 181 Stereo / First published in 1968

(2) 'Vocal Music / Alap—Dhamar—Khyal—Thumri'

Zahiruddin Dagar (Singer) / Faiyazuddin Dagar (Singer)
Gopal Das (Pakhavaj)

Side A : *Raga Ahir Bhairav / Alap*
Raga Ahir Bhairav / Dhamar

Recordings by Manfred Junius/Commentary by Alain Daniélou
An Anthology of North Indian Classical Music Vol. I
Edited for the International Music Council by the International Institute for Comparative Music Studies and Documentation
Bärenreiter / Musicaphon BM 30 SL 2051 Stereo

(3) 'Dhrupad / Dagar Brothers'

Nasir Zahiruddin Dagar (Vocal) / Nasir Faiyazuddin Dagar (Vocal), Gopal Das (Pakhawaj)
Musarrat Dagar (Tambura); Christina Fabiani (Tambura)

Side A : *Raga Darbari Kanada* / Slow *Alap*

Side B : Fast *Alap*

Composition "*Sajana bina khelata*" in *Dhamar Tal*

Raga Adana/ Composition "*Shiva Shiva Shiva Shankar Adideva*" in *Sultal*

Side C : *Raga Bihag / Alap*

Side D : Composition "*Sundara hogayi*" in *Chautal*
Raga Kedar / Short *Alap*
Composition "*Bhajre man Vishvanatha*" in Chautal

Recorded June 29th, 1980 at Lukas Kirche München
Cover notes by Peter Muller
LOFT Stereo 1006/7 Doppel-LP

(4) 'Chant Dhrupad'

Nasir Zahiruddin and Nasir Faiyazuddin Dagar
Laxmi Narain Pawar (Pakhawaj)
Musarrat Dagar (Tampura)

Side A : *Raga Bageshri / Alap*

Side B : *Dhrut*

Raga Bhatiyar / Alap-Dhrut

Auvidis AD 040 / AV 4511

6. *Ustad Zia Fariduddin Dagar*

(1) Ustad Zia Fariduddin Dagar / *Raga Chandrakauns*

Side A : *Alap*

Side B : *Alap, Jor, Jhala*

Recorded September 25, 1981, in Stockholm, Sweden
Origo 1002

(2) 'Le Chant Dhrupad de Ustad Zia Fariduddin Dagar'
Manik Munde (Pakhawaj)

Side A : *Raga Bhimpalasi / Alap, Jor* (I)

Side B : *Raga Bhimpalasi / Jor* (II) *Jhala, Bandish* (*Chautal*)

Cover notes by Christian Ledoux
Traditions Classiques de l'Orient / L'Inde Vol. 15
SonoDisc / Disques Esperance ESP 8413/SD 16 (1985)

B. Darbhanga Tradition

1. Pandit Ram Chatur Mallick

'Inde du Nord / Chant Dhrupad et Dhamar'
Pandit Ram Chatur Mallick avec Abhay Narayan Mallick (Support vocal)
Ramashish Pathak (Pakhawaj)

Side A : *Raga Darbari Kanhra / Alap* et *Dhrupad* en *Choutal*

Side B : *Raga Multani / Alap* et *Dhamar* en *Dhumar Tal*

Cover notes by Chandrakant Lal Das
Recorded in August 1976 at Noisy Recording Studio Patna
Playa Sound PS 33513/SF 202

2. Pandit Siya Ram Tewari

'Doyen of Darbhanga Gharana'
Pandit Siya Ram Tewari supported by Pandit Ram Sewak Tewari

Arjun Shejwal (Pakhawaj)

Side A : *Raga Darbari / Dhrupad (Chautaal)*
"*Naad vistar kinhoon na payo paar*"

Side B : *Raga Bageshwari / Hori (Dhamar)*
"*Lal nahin aaye hori ke dinan men*"
Raga Adana / Sadra (Jhaptal)
"*Kali ke pagar men magan* raho"

HMV / EMI India Stereo ECSD 2771 / Published in 1976

2, INSTRUMENTAL MUSIC

A. Rudra Vina

1. Ustad Asad Ali Khan

(1) Ustad Asad Ali Khan (Rudra Veena)
Pandit Gopal Das (Pakhawaj)
Ganendra Nath Das (Tanpura)

Side A : *Raga Mian Ki Todi / Alap, Jod,* and *Jhala*

Side B : *Raga Desh / Jod, Jhala* and *composition* in *Jhanptal*

HMV / EMI India ECSD 2533 Stereo / Published in 1978

(2) 'String Instruments / An Anthology of North Indian Classical Music, Vol. II'
Asad Ali Khan (Vina)
Gopal Das (Pakhavaj)
Side B : *Raga Vasanta / Jhampa Tala*

Recording by Manfred Junius /Commentary by Alain Daniélou
Edited for the International Music Council by the International Institute for Comparative Music Studies and Documentatiou
Bärenreiter/Musicaphon BM 30 SL 2052 Stereo

2. Ustad Zia Mohiuddin Dagar

(1) 'Musique Classique de l'Inde'
Ustad Zia Mohiuddin Dagar (Rudra Vina)
Side A : *Raga Mangeyabushan*
Side B : *Raga Mangeyabushan* (Fin)
Cover notes by Bettina de Almeida
Disques Alvares LD 114

(2) 'Rudra Veena Recital'
Ustad Zia Mohiuddin Dagar (Rudra Veena)
Swami Pagal Das (Mridang Accompaniment)
Side A : *Raga Chandrakauns / Alap, Jod, Jhala, Gat, Chautaal*
Side B : *Gat Jog* : *Aditaal*
Mridang Solo : *Chautaal*
HMV India ECSD 2736 Stereo / Published in 1974

(3) Ustad Zia Mohiuddin Dagar (Rudra-Veena)
Philippe Bruguiere and Yvan Trunzler (Tampuras)
Raga Pancham Kosh
Side A : *Alap*
Side B : *Johr*
Cover notes by Alain Seron
Auvidis AV 4514 / AD 038

B. Pakhawaj Solos

(1) Mridangacharya Pt. Arjun Shejwal / Pakhawaj Wadan
Anant Kunte (Sarangi), Tulsidas Borkar (Harmonium), Prakash Shejwal (Tali)
Side A : *Chautaal*
Side B : *Dhamar / Matta Taal*
HMV / EMI India ECSD 2984 / Published in 1984

(2) 'Indian Talas / The Rhythmic Art of North Indian Music'
Musical Atlas / Unesco Collection
Side B : Raja Chhatrapati Singh (Pakhawaj)
Chautala / Jhaptala
Cover notes by Nikhil Ghosh
EMI / Odeon 64 / 1623911 / Published in 1983

(3) 'The Music of India / Record III / Dhrupad-s' (vide Vocal Music A. 2. (I)
Raja Chhatrapati Singh (Pakhawaj)

Side B : *Dhamar Tala*, Pakhavaj Solo
Barenreiter / Musicaphon BM 30 SL 2052 Stereo

(4) 'An Anthology of North Indian Classical Music, vol. II' (vide Rudra Vina 1. (2)
Prem Vallabh (Pakhavaj)
Side B : *Chautala*
Barenreiter / Musicaphon BM 30 SL 2052 Stereo

(5) 'Rudra Veena Recital' (vide Rudra Vina 2. (2)
Swami Pagal Das
Side B : Mridang Solo : *Chautaal*
HMV India ECSD 2736 / Published in 1974

Maharajkumar Anant Narain Singh presenting coconut and garlands to her Highness Maharani Lakshmibai of Travancore

Her Highness Maharani Lakshmibai and His Highness Martand Varma Elayaraja looking at the presents
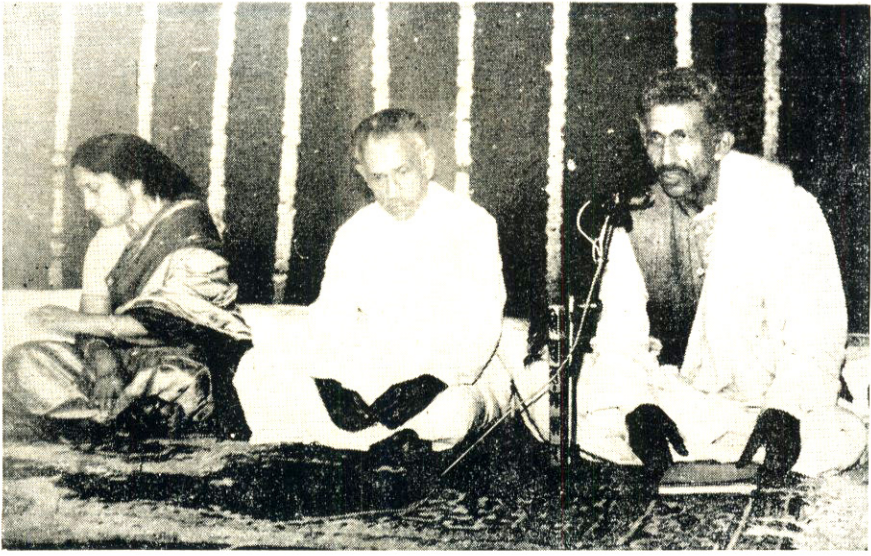
(From left to right) Her Highness Maharani Lakshmibai, His Highness Martanda Varma Elayaraja and Prof. Veerbhadra Mishra

(From left to right) 1. Dr. Raghunath Singh 2. Maharaja Kumar Anant Narain Singh 3. Her Highness Maharani Lakshmibai 4. His Highness Martand Varma Elayaraja 5. Raja Chhatrapati Singh 6. Prof. Veerbhadra Mishra

DHRUPAD NEWS

Dr. Ritwik Sanyal

The first report in the first issue of this journal was a consolidated one. It spanned the years February 1975 to Jan 1986. This is the second report. From now on we are going to cover only one year, the preceding one : From one Śivarātri festival (usually falling in February) to the next Śivarātri eve. Centres of *dhrupad-dhamar* all over the world may kindly send us reports of their functions along with published souvenirs if any.

During Feb 1986—Jan 1987 we have had seven major festivals :

1. Varanasi Mar 86. Of these, historically the most important one was the 12th Akhil Bharatiya Dhrupad Mela held at Varanasi from 6th to 8th March by the Maharaja Banaras Vidya Mandir Trust. Maharaj-Kumar Anant Narain Singh of Kāshi inaugurated it. He emphasized the importance of dhrupad and its renascence as Hindu music at its best and oldest. He urged the artistes to maintain the dignity of dhrupad and enrich the tradition to take it to its pristine purity and its commanding heights.

Her Highness the Maharani Lakshmibai of Travancore and His Highness Martanda Varma Elayaraj of Travancore graced the occasion. This was their first appearance but with a magnanimous purpose that boosted the morale and gladdened the heart of all dhrupad lovers both among the artistes and audience. His Highness the Maharaja subscribed to Maharaja Banaras Vidya Mandir Trust a magnificent sum of rupees one lakh as an endowment fund in memory of Swati Tirunal for annual awards to three eminent *dhrupadiyas*—two singers and a pakhawaji. (Vide last section for 1986 awardees).

The Mela was the occasion for another historical event viz. the publication of the first issue of the Dhrupad Annual by the MBVM Trust and its release by the Vice Chancellor Prof. Dr. Prem Lata Sharma of Khairagarh Indira Kala Sangit Viśvavidyālaya. It contains seven scholarly studies on dhrupad in several aspects. (Copies still available with us). The journal is the first of its kind in the world and unique in being singularly devoted to the renaissance of Indian national art music in all its aspects—philosophical, historical, sociological, ethnomusicological, artistic technical, aesthetic, and so on.

The artistes who gave concerts at the Mela were : (a) vocal—*Sarvasri* Siyaram Tiwari, Ritwik Sanyal, Raghuvir Mallik, Pawar Bandhu, Prem

Kumar Mallik, Kaveri Basu (*nee* Kar), Abhay Narayan Mallik, Mahadev Mishra, Vidur Mallik; (b) instrumental *Sarvasri* Asit Kumar Banerji (*rudra-vina*), Jyotin Bhattacharya (*sarod*), Rajbhaa Singh (*surbahar*), Gorakhnath Das (*vamsa*), Narayan Mishra (*sarangi*); (c) pakhawaj—Raja Chhatrapati Singh, Swami Pagal Das, *Sarvasri* Ramji Upadhyaya, Laxminarayan Pawar, Ravi Shankar, Tribhuvan Upadhyaya, Srikant Mishra, Ram Kumar Jha, Saket Maharaj, Udaykumar Mallik, Sachchidananda Soni, Vibhuti Mishra, Phillip Hollenbeck.

As in previous years, this year too, Professor Virbhadra Mishra, the *mahant* of Akhara Goswami Tulsidas, made all the arrangements for the *mela* and did the management with efficiency and elegance.

2. **Delhi**—Feb 86. The Dhrupad Society's 2nd *samaroh* was held in Delhi from February 20 to Feb 23. The participants were vocalists and instrumentalists : Dr Sumati Mutatkar, Pt Siyaram Tiwari, Ud Aminuddin Dagar, Ud Zahiruddin & Fayyazuddin Dagar, Ud Sayeeduddin Dagar, Pt Vittal Das Vapodra, Ud Asad Ali Khan (*rudravina*), Ud Rehmat Ali Khan (*sarod*), Pt Shankar Rao Shinde (*pakhawaj*) besides several accompanists Pt Gopal Das, Lakshminarain Pawar, Ramashish Pathak and Balkishan. The Times of India published an elegant collectors' issue on the occasion.

3. **Vrindavan**—Mar 86. The Chaitanya Prem Sansthan celebrated their 5th dhrupad-dhamar *mahotsav* at Vrindavan from March 12 to March 17. Nearly all the eminent singers of dhrupad-dhamar, beenkars and pakhawajis appeared on the festival platform with a few temple musicians (*haveli*, *samaj* genres) of Brajbhumi.

4. **Jaipur**—Oct 86. The fifth annual Bairam Khan dhrupad *samaroh* was held under the auspices of the Dhrupad Society in October 1986. (The detailed particulars have not been received).

5. **Indore**—Nov 86. An all India dhrupad *samaroh* was held for the first time in memory of Mridangacharya Chunilal Pawar under the auspices of the Dhrupad Kala Kendra-Indore in a three day session (Nov 26-28). This was organised by the three illustrious Pawar Brothers, of whom the eldest is a renowned pakhawaji and the two younger ones are reputed duet singers of dhrupad. The artists who performed were : Ud Fahimuddin Dagar, Pawar Bandhu and Pt. Abhaynarain Mallik (*dhrupad*), Pt. Gopalkrishna Sharma (*vicitravina*), Ud Zia Mohiuddin *Dagar* (*rudravina*), Sarvasri Bhavyanand Bhatt (*vocal*), Dattopant Joshi, Mangal Bedekar (*pakhawaj*), Mahesh Barodia (*sarod*), Rajkumar Sharma (*kathak* dance), Sanjay Agle and Balkrishna Vaidya (*pakahwaj*). The accompanists were Laxminarain Pawar and Gopaldas pakhawaji and sarangi players Mohinuddin Khan and Munna Khan.

6. **Darbhanga**—Nov. 86. The Bihar Rajya Kala Akademi organised for the first time an all India Dhrupad *samaroh* at Darbhanga from Nov. 28 to Nov. 30. The artists who performed were : (a) vocal—Pt. Ramchatur Mallik, Pt. Siyaram Tiwarj, Ustad Zia Fariduddin Dagar, Ud. Nasir Zahiruddin & Ud. Fayyazuddin Dagar, Pt. Abhayanarain Mallik, Naval-kishor Mallik, Raghuvir Mallik, Narahari Pathak, Ustad Fahimuddin Khan Dagar, Ramprasad Pande; (b) instrumental—Sarvasri Manilal Nag (*sitar*) *Ud.* Bahadur Khan (*sarod*), Pt. Asit Bannerji & Arati Banerji (*been*), Ustad Asad Ali Khan (*been*), Raja Chhatrapati Singh (*pakhawaj*), Sarvasri Ramashish Pathak, Udaykumar Mallik, Pannalal Upadhyaya, Ramji Upadhyaya (all *pakhawajis*), Anwar Hussain and Maqbul Husain (*sarangi*).

7. **Jabalpur**—Jan 87. A dhrupad fest of the temple tradition called Mandir Aur Dhrupad was held for the first time at Jabalpur on Jan. 16-17 1987 under the auspices of the Ustad Allauddin Khan Sangit Akademi of Madhya Pradesh Govt. It was solely devoted to *haveli sangit* of the *astachhap bhakti* poets. Among the participants were Pt. Bhagwati Prasad Sharma (Bombay), Swami Sriram and Swami Fatehkrishna (Vrindavan), Sarvasri Gopirasika Tailang (Mathura), Ramdas Kirtankar (Mathura), Satyabhan Sharma (Agra) and Kumudchandra Pandya (Bombay). The accompanists were Sarvasri Parmanand Sharma, Krishnadas Bannatwala, Jayesh Pandya and Saradaprasad Bhatt.

Dhrupad-dhamar items were also included in general music festivals held at Gwalior, Ayodhya, Calcutta, Pune, Kanpur, Khairagarh, Mirzapur and several other places in the country. Tansen *samaroh* at Gwalior (Dec. 12-14, 1986) presented *rudravina* recitals by Ustad Zia Mohiuddin Dagar and Shamsuddin Faridi Desai and drupad recitals by Pt. Siyaram Tiwari & Abhay Narain Mallik. In the All India Cultural Festival sponsored by South Zone Culture Centre of Bangalore (Nov. 10-17, 1986), dhrupad recitals were given by Pt. Ramchatur Mallik and Ud. Aminuddin Khan Dagar. Calcutta Gharana Music Centre presented dhrupad-dhamar items by Ritwik Sanyal accompanied by Ashok Tagore in its general classical music conference of the year. Music festival organised by Madhya Pradesh Kala Parishad at Khairagah (Sep. 20-22-86) included a Dhamar recited by Sri Gokulotsava Goswami.

Activities Abroad. It was noted in the inaugural issue of the annual that there has been a steady growth of Euro-American interest in dhrupad during the last half a century. In this context we are happy to report that the Dhrupad Society (which was founded by the Delhi-based Dagar brothers at Jaipur in 1977 and subsequently in Delhi in 1984) extended its establishment in France : the Dhrupad Society was formed there in June 1986. A

chic brochure containing write-ups on dhrupad and the Dagars was brought out on the occasion. Phillipe Bruguiere (trained by Ud. Zia Mohiuddin Dagar) & Yvan Trunzler (trained by Ud. Fariduddin Dagar & Ritwik Sanyal) have been conducting dhrupad workshops in Paris since March 1986. They have brought out an elegant folder analysing dhrupad style singing and playing on rudravina. Ustad Zia Mohiuddin Dagar visited Sweden for concerts and workshops in the summer of 1986.

Awards

1. The M. P. Government has honoured Ustad Zia Mohiuddin Dagar (the world famous *rudravina* player) by awarding him *Kalidas Samman* for the year 1986. The award carries a cash prize of Rs. one lakh.

2. The recipients of the Swati Tirunal cash prizes worth Rs. 3000/- each awarded by Maharaja Banaras Vidya Mandir Trust from the Endowment Fund of the ruler of Travancore for the 12th dhrupad mela (1986) were : Ustad Zia Fariduddin Dagar (*vocal*), Pt. Vidur Mallik (*vocal*) and Raja Chhatrapati Singh (*pakhawaj*).

3. The Bihar Rajya Kala Akademi in its first dhrupad *samaroh* (1986) honoured the veteran dhrupad singer Pt. Ram Chatur Mallik by giving him the title *dhrupad-gan-shiromani* along with a cash prize of Rs. 5000/-.

4. Shri Nana Panse Award (1986) for pakhawaj was given to Shri Dattopant Joshi Mangal Bedekar of Pandharpur by the Dhrupad Kala Kendra-Indore.

ध्रुपद समाचार

डा० ऋत्विक् सान्याल

(डा० सुभद्राचौधरी कृत अनुवाद)

इस पत्रिका के पहले अंक में प्रकाशित पहली रिपोर्ट संक्षिप्त थी, क्योंकि उसमें फरवरी १९७५ से जनवरी १९८६ तक के लम्बे काल को समेटा गया था। यह दूसरी रिपोर्ट है। अब हम पिछले एक-एक वर्ष की यानी एक शिवरात्रि से अगली शिवरात्रि (जो प्रायः फरवरी माह में आती है) तक की रिपोर्ट ही देंगे। विश्व भर में ध्रुपद-धमार केन्द्र अपने कार्यक्रमों की रिपोर्ट प्रकाशित स्मारिकाओं सहित (यदि हो तो) हमें भेजने की कृपा करें।

फरवरी १९८६ से जनवरी १९८७ के बीच ७ बड़े उत्सव आयोजित हुए :—

(१) वाराणसी—मार्च ८६। महाराजा बनारस विद्या मंदिर ने ६ से ८ मार्च को अपना १२वाँ अखिल भारतीय ध्रुपद मेला आयोजित किया।

महाराजकुमार अनन्त नारायण सिंह ने मेले का उद्घाटन किया। उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में ध्रुपद के महत्त्व का प्रतिपादन किया और श्रेष्ठ हिन्दू संगीत के रूप इसके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता दर्शायी। उन्होंने कलाकारों से आग्रह किया कि वे ध्रुपद के वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखते हुए इसकी परम्परा को समृद्ध करें तथा मौलिक शुद्धता एवं उत्कृष्टता को लाने का प्रयास करें।

ट्रावनकोर की तत्रभवती महारानी लक्ष्मीबाई एवं तत्रभवान् मार्तण्ड वर्मा एलयाराज प्रथम बार इसमें उपस्थित थे। उनकी प्रथम उपस्थिति एक विशिष्ट उद्देश्य से थी जिससे कलाकार तथा श्रोता दोनों के हृदय आनन्द-विभोर थे। तत्रभवान् महाराज ट्रावनकोर ने अपने पूर्वज स्वाति तिरुनाल की स्मृति में प्रतिवर्ष तीन विशिष्ट ध्रुपदियों को पुरस्कृत करने के लिये महाराज बनारस विद्यामन्दिर न्यास को एक लाख रुपये की राशि समर्पित की है।

मेले में एक दूसरी ऐतिहासिक घटना महाराज बनारस विद्यामन्दिर न्यास द्वारा ध्रुपदवार्षिकी के प्रथमाङ्क का प्रकाशन था। इस पत्रिका का प्रकाशनोद्घाटन इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय की कुलपति डा० प्रेमलता शर्मा ने किया। (इसकी प्रतियाँ अब भी हमारे यहाँ प्राप्य हैं)। यह पत्रिका विश्व में अपने प्रकार की अकेली है जो एक मात्र ध्रुपद के ही विविध पक्षों के उद्घाटन में समर्पित है।

भाग लेने वाले कलाकार थे—(अ) गायन : सर्वश्री सियाराम, तिवारी, ऋत्विक् सान्याल, रघुवीर मल्लिक, पवारबन्धु, प्रेमकुमार मल्लिक, कावेरी कर, अभयनारायण मल्लिक, महादेव मिश्र, विदुर मल्लिक, (आ) वादन : असित कुमार बनर्जी (रुद्रवीणा)

ज्योतीन भट्टाचार्य (सरोद), राजभान सिंह (सुरबहार), गोरखनाथ दास (वंशी), नारायण मिश्र (सारंगी), (इ) पखावज: राजा छत्रपति सिंह, स्वामी पागलदास, रामजी उपाध्याय, लक्ष्मीनारायण पवार, रविशंकर, त्रिभुवन उपाध्याय, श्रीकान्त मिश्र, रामकुमार पाठक, रामकुमार झा, साकेत महाराज, उदयकुमार मल्लिक, सच्चिदानन्द सोनी, विभूति मिश्र, फिलिप हॉलनबॅक।

पूर्व वर्षों की ही भाँति इस वर्ष भी ध्रुपद मेले का कुशल प्रबन्ध और संचालन अखाड़ा गोस्वामी तुलसीदास के महन्त प्रो० वीरभद्र मिश्र ने किया।

(२) दिल्ली—फरवरी १९८६। ध्रुपद सोसाइटी का द्वितीय समारोह दिल्ली में २० फरवरी से २३ फरवरी तक हुआ, जिसमें इन गायक और वादकों ने भाग लिया—डा० सुमति मुटाटकर, पं० सियाराम तिवारी, उ० अमीनुद्दीन डागर, उ० जहीरुद्दीन और फैयाजुद्दीन डागर, उस्ताद सईदुद्दीन डागर, पं० विठ्ठलदास बापोदरा, उ० असद अली खाँ (रूद्रवीणा), उ० रहमत अली खाँ (सरोद), पं० शङ्कर राव शिन्दे (पखावज) तथा अन्य अनेक संगतिकार कलाकार जैसे—पं० गोपालदास, श्री लक्ष्मीनारायण पँवार, श्री रामाशीष पाठक और श्री बालकिशन। इस अवसर पर "दि टाइम्स आफ इंडिया" ने एक भव्य अंक प्रकाशित किया।

(३) वृन्दावन—मार्च ८६। चैतन्य प्रेम संस्थान ने १२ से १७ मार्च को वृन्दावन में अपना पाँचवां ध्रुपद-धमार महोत्सव मनाया। ब्रजभूमि के कुछ मन्दिर गायकों (हवेली, समाज शैली के) सहित ध्रुपद-धमार के सभी प्रमुख गायक, बीनकार और पखावज वादकों ने समारोह में भाग लिया।

(४) जयपुर—अक्टूबर ८६। पाँचवां वार्षिक बैराम खाँ ध्रुपद समारोह ध्रुपद सोसाइटी के तत्वावधान में अक्टूबर १९८६ में आयोजित हुआ। (ब्योरेवार जानकारी प्राप्त नहीं हुई)।

(५) इन्दौर—नवम्बर ८६। मृदंगाचार्य चुन्नीलाल पवार की स्मृति में पहली बार एक अखिल भारतीय ध्रुपद समारोह त्रिदिवसीय आयोजन के रूप में ध्रुपद कला केन्द्र इन्दौर द्वारा २६-२८ नवम्बर को किया गया। इसे तीन प्रख्यात पवार बन्धुओं द्वारा आयोजित किया गया जिनमें से सबसे बड़े प्रख्यात पखावजी हैं और दो छोटे पवार बन्धु ध्रुपद के युगल गायक के रूप में प्रसिद्ध हैं। भाग लेने वाले कलाकार थे—उ० फ़हीमुद्दीन डागर, पवार बन्धु और अभयनारायण मल्लिक (ध्रुपद), गोपालकृष्ण शर्मा (विचित्रवीणा) उ० जिया मोहीउद्दीन डागर (रुद्रवीणा), भव्यानंद भट्ट (गायन), दत्तोपन्त जोशी, मंगलबेडेकर (पखावज), महेश बड़ोदिया (सरोद), राजकुमार शर्मा (कत्थक नृत्य), संजय आंगले और बालकृष्ण वैद्य (पखावज) संगतकार थे—लक्ष्मीनारायण पवार और गोपालदास पखावजी तथा सारंगी वादक मोहीनुद्दीन खाँ और मुन्ना खाँ।

(६) दरभंगा—नवम्बर ८६। बिहार राज्य कला अकादेमी ने पहली बार एक अखिल भारतीय ध्रुपद समारोह २८-३० नवम्बर को दरभंगा में किया। जिन कलाकारों

ने भाग लिया वे इस प्रकार है—(अ) गायन : पं० रामचतुर मल्लिक, पं० सियाराम तिवारी, उ० जिया फरीदुद्दीन डागर, उ० नसीर जहीरुद्दीन और फ़ैयाज़ुद्दीन डागर, अभयनारायण मल्लिक, नवलकिशोर मल्लिक, रघुवीर मल्लिक, नरहरि पाठक, उ० फ़हीमुद्दीन खाँ डागर, रामप्रसाद पांडे, (आ) वादन : सर्वश्री मणिलाल नाग (सितार), बहादुर खाँ (सरोद), असित बनर्जी और आरती बनर्जी (बीन), उ० असद अली खाँ (बीन), राजा छत्रपति सिंह (पखावज) रामाशीष पाठक, उदय कुमार मल्लिक, पन्नालाल उपाध्याय, रामजी उपाध्याय (सभी पखावजी), अनवर हुसेन और मकबूल हुसेन (सारंगी)।

(७) जबलपुर—जनवरी ८७। मध्य प्रदेश शासन को उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ संगीत अकादमी के तत्त्वावधान में मन्दिर परम्परा का एक ध्रुपद उत्सव "मन्दिर और संगीत" नाम से १६, १७ जनवरी १९८७ को जबलपुर में हुआ। यह पूरी तरह अष्टछाप के भक्त कवियों के हवेली संगीत को समर्पित था। भाग लेने वाले कलाकारों में भगवती प्रसाद शर्मा, (बम्बई), स्वामी श्रीराम और स्वामी फतेहकृष्ण (वृन्दावन), गोपी रसिक तैलंग (मथुरा), रामदास कीर्तनकार (मथुरा), सत्यभान शर्मा (आगरा) और कुमुदचंद्र-पण्ड्या (बम्बई) थे। परमानन्द शर्मा, कृष्णदास बनातवाला, जयेश पण्ड्या और शारदा प्रसाद भट्ट संगतकार थे।

ग्वालियर, अयोध्या, कलकत्ता, पूना, कानपुर, खैरागढ़, मिर्जापुर और अन्य कई स्थानों पर संगीत समारोहों में ध्रुपद-धमार के कार्यक्रम भी हुए। १२-१४ दिसम्बर १९८६ के ग्वालियर के तानसेन समारोह में उ० जिया मोहीउद्दीन डागर और शमसुद्दीन फरीदी देसाई का रुद्रवीणा वादन और पं० सियाराम तिवारी तथा अभयनारायण मल्लिक का ध्रुपद गायन प्रस्तुत हुआ। बंगलोर के दक्षिण क्षेत्रीय संस्कृति केन्द्र द्वारा १०-१७ नवम्बर १९८६ को आयोजित अखिल भारतीय सांस्कृतिक समारोह में पं० रामचतुर मल्लिक, और उ० अमीनुद्दीन खाँ डागर का ध्रुपद गायन हुआ। कलकत्ता घराना म्यूजिकल सेन्टर की वार्षिक शास्त्रीय संगीत कान्फरेन्स में ऋत्विक् सान्याल का ध्रुपद-धमार कार्यक्रम हुआ, जिसमें संगति प्रदान की अशोक टैगोर ने। मध्य प्रदेश कला परिषद् द्वारा खैरागढ़ में (२०-२२ सितम्बर ८६) आयोजित संगीत समारोह में श्री गोकुलोत्सव गोस्वामी का धमार गायन भी हुआ।

विदेशों की गतिविधियां

"ध्रुपद वार्षिकी" के उद्घटन अंक में यह कहा गया था कि पिछली आधी शताब्दी में ध्रुपद के विषय में यूरोप-अमेरिकी रुचि में निरन्तर वृद्धि हुई है। इस संदर्भ में हमें यह सूचित करने में प्रसन्नता है कि ध्रुपद सोसाइटी (जिसकी स्थापना १९७७ में दिल्ली के डागर बंधुओं के द्वारा जयपुर में और फिर १९८४ में दिल्ली में हुई) ने अपनी संस्था का फ्रांस में भी विस्तार किया। वहाँ १९८६ में ध्रुपद सोसाइटी का गठन हुआ। इस अवसर पर एक बढ़िया स्मारिका निकाली गई, जिसमें ध्रुपद

और डागरों के विवरण दिए गये हैं। फिलिप् ब्रुगेर और इवान् ट्रजलर (अन्तिम का प्रशिक्षण उ० फरीदुद्दीन डागर और ऋत्विक् सान्याल के पास हुआ) पेरिस में मार्च १९८४ से ध्रुपद पर कार्यशाला संचालित करते रहे हैं। उन्होंने ध्रुपद शैली के गायन और रुद्रवीणा पर वादन का विश्लेषण करने वाला एक सुरुचि पूर्ण फोल्डर प्रकाशित किया है। उ० ज़िया मोहीउद्दीन डागर ने १९८६ के ग्रीष्मकाल में कार्यक्रमों और वर्कशाप के लिए स्वीडन यात्रा की।

सम्मान

१—मध्य प्रदेश सरकार ने विश्वविख्यात रुद्रवीणा वादक उ० ज़िया मोहीउद्दीन डागर को १९८६ का "कालिदास सम्मान" प्रदान करके सम्मानित किया। इसमें एक लाख पये नकद राशि प्रदान की जाती है।

२—महाराजा बनारस विद्या मंदिर ट्रस्ट द्वारा त्रावणकोर शासक के "एन्डा-उमेण्ट फंड" द्वारा स्वाति तिरुनाल के नाम पर प्रत्येक कलाकार को दी जाने वाली ३,००० रुपये की नकद राशि द्वारा सम्मानित व्यक्ति थे—उ० ज़िया फरीउद्दीन डागर (गायन), पं० विदुर मल्लिक (गायन) और राजा छत्रपति सिंह (पखावज)।

३—बिहार राज्य कला आकादमी ने अपने प्रथम ध्रुपद समारोह (१९८६) में वयोवृद्ध अनुभवी ध्रुपद गायक पं० रामचतुर मल्लिक को "ध्रुपद-गान-शिरोमणि" की उपाधि और पांच हजार रूपये की नकद राशि के द्वारा सम्मानित किया।

४- पंढरपुर में श्री दत्तोपन्त जोशी मंगलबेडेकर को ध्रुपद कला केन्द्र, इन्दौर ने पखावज के लिए "श्री नाना पानसे सम्मान" (१९८६) प्रदान किया।

OUR CONTRIBUTORS

1. Chaudhary, Subhadra, M. Musicology, Ph. D. (B. H. U.); Head, Dept. of Musicology and Aesthetics, I. K. S. V., Khairagarh (M. P.) 491881. Author of highly commendəd work *'Bhāratīya Saṅgīt Men Tāla Aur Rūp Vidhān (Laksya-Lakṣaṇamūlak Adhyayan)'* covering ancient, medieval and contemporary Tāla system, compositional forms and prosody-

2. Delvoye, Francoise, 'Nalini' is a French Indologist from the Sorbonne University, Paris. After completing a critical edition and French translation of the*Bhaṁvar-gīt* of Nand-dās (Ph. D., 1976), she started a research work on *dhrupad* compositions, from a literary point of view. She is presently collecting and editing the *dhrupad* compositions attributed to Tānsen (from the oral and written tradition).

   Address : Dr. Francoise Delvoye 'Nalini', 4 rue Alfred de Musset, 91220 Bretigny/Orge, France.

3. Mutatkar, Sumati, Dr., Ex-Dean, Faculty of Music and Fine Arts, University of Delhi and Ex-Producer Emeritus, All India Radio. Trained under late Dr. S. N. Ratanjankar, Pt. Govindrao Burahanpurkar and others. Performer of Dhrupad and Khyal and Musicologist

   Address : C 33/29-31 Chatra Marg, New Delhi-7.

4. Müller, Peter-Friedrich, born 1946, is a German composer/musician who studied Sinology, Indology, Comparative Religions and Musicology. M. A. Thesis on Chinese music. He studied Dhrupad with N. Zahiruddin Dagar, Ram Chatur Malik and Vidur Malik for several years and directed the "Audio-visual Library of Dhrupad Compositions" at the Shri Caitanya Prema Sansthan" in Vrindaban from 1983 to 1985. Presently, he is preparing a dissertation on the Dhrupad tradition of Darbhanga.

   Address: Peter-F. Müller, Vorbergstr. 7, 100 Berlin 62, West Germany.

5. Lath, Mukund, M. A. (Sanskrit) Ph. D. (Sanskrit) Lecturer, Department of History of Indian Culture, University of Rajasthan, Jaipur. Author of 'A Study of Dattilam', edited Ardhakathanak and various research papers published. Has had many professional visits abroad. History, music and literature are his main interests; has a multi-disciplinary academic career.

   Address : A-3 Jamnalal Bajaj Marg, 'C' Scheme, Jaipur-302 001.

6. Sharma, Prem Lata. Ex-Dean, Faculty of Music and Fine Arts and later Faculty of Performing Arts, Ex-Head, Department of Musicology (all in Banaras Hindu University), presently Vice-Chancellor, Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh 491881 (MP).

7. Sanyal Ritwik, M. A. (Philosophy, Bombay University), M. Mus. (Vocal Music B. H. U.), Ph. D. (B. H. U.). Lecturer in Vocal Music, Faculty of Performing Arts, B. H. U., Varanasi-221005. Has had intensive training in Dhrupad in the Dagar tradition, from Ud. Zia Mohiuddin Dagar. Has participated in almost all Dhrupad festivals organised at various places in India during the last years. Has also given performances abroad and conducted workshop on Dhrupad in Austria and U. K.

   Address : M 5/6 Tulsi Manas Mandir Colony, Varanasi-221005.

हमारे निबन्ध लेखक

१. चौधरो, सुभद्रा, एम० म्युजिकोलाजी, पी-एच० डी० (बी० एच० यू०), संप्रति इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ में म्युजिकोलाजी और एसथेटिक्स की विभागाध्यक्ष; 'भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान (लक्ष्य-लक्षण मूलक अध्ययन)' नामक अत्यन्त प्रामाणिक तथा प्रशस्त ग्रन्थ की लेखिका।

२. देलवोआ, फ्रांस्वाज़ 'नलिनी'; सोरबोन विश्वविद्यालय, पेरिस, की प्राच्य-विद्याविदुषी; नन्ददासकृत 'भँवरगीत' का पाठ-संपादन और फ्रेन्च भाषा में अनुवाद (पी-एच० डी० १९७६) करने के बाद इन्होंने ध्रुपद की रचनाओं का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन प्रारम्भ किया; संप्रति तानसेन की विख्यात ध्रुपद रचनाओं का संकलन तथा संपादन कर रही हैं। पता—अंग्रेज़ी में देखिये।

३. मुटाटकर, सुमति डा०; भूतपूर्व संकाय-प्रमुख, म्युजिक तथा फाइन आर्ट्स संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय; भूतपूर्व सम्मानित प्रोड्यूसर, आकाशवाणी; स्वर्गीय डा० रतनजनकर, पण्डित गोविन्दराव बुरानपुरकर इत्यादि से प्रशिक्षित; ध्रुपद तथा ख्याल, के गायक एवं संगीत विशेषज्ञ; पता सी ३३।२९-३१, छत्र मार्ग, नयी दिल्ली—७।

४. म्युलर, पेटर फ्रेडरिक जन्म १९४६ में; जर्मनी के गीतकार तथा गायक; चीनी विद्या, भारतीय विद्या, तुलनात्मक धर्म तथा संगीतशास्त्र के अध्येता; एन० जहीरुद्दीन डागर, राम चतुर मल्लिक तथा विदुर मल्लिक से कई वर्षों तक ध्रुपद सी शिक्षा प्राप्त की; चैतन्य प्रेम संस्थान वृन्दावन में १९८३ से १९८५ तक ध्रुपद गीतों के आडो-विजुवल पुस्तकालय का निर्देशन किया; संप्रति 'दरभङ्गा की ध्रुपद परम्परा' पर शोध प्रवन्ध तैयार कर रहे हैं। पता—पेटर एफ० म्युलर, वोरवर्जस्ट्र, ७, १००० र्वालन ६२, पश्चिम जर्मनी।

५. लाठ, मुकुन्द, एम० ए० (संस्कृत), पी-एच० डी० (संस्कृत); प्राध्यापक भारतीय संस्कृति का इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर; 'ए स्टडी आफ दत्तिलम्' के लेखक; संपादक 'अर्धकथानक; कई शोध निवन्धों के लेखक; इतिहास, संगीत, साहित्य आदि विविध विषयों के ज्ञाता; बहुत बार विदेश यात्रा की। पता—ए-३ जमना लाल बजाज मार्ग, सी स्कीम, जयपुर-१।

६. शर्मा, प्रेमलता, भूतपूर्व संकायप्रमुख, म्युजिक एवं फाइन आर्ट्स संकाय (संप्रति परफार्मिका आर्ट्स संकाय), भूतपूर्व अध्यक्ष संगीतशास्त्र विभाग (काशी हिन्दू विश्व विद्यालय); संप्रति कुलपति इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ ४९१८८१ (म० प्र०)।

७. सान्याल, ऋत्विक् : एम० ए० (दर्शनशास्त्र, बम्बई विश्वविद्यालय); एम० म्युज० (स्वरसंगीत, बी० एच० यू०); पी०-एच० डी० (बी० एच० यू०); प्राध्यापक-मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय : डागर परम्परा में जिया मोहउद्दीन डागर के निर्देश में ध्रुपद की प्रगाढ़ शिक्षा; विगत दस वर्षों में देश में हुए समस्त ध्रुपद कार्यक्रमों में भाग लिया; विदेश में भी ध्रुपद गायन किया तथा ऑस्ट्रिया एवं इंग्लैण्ड में ध्रुपद शिविर में प्रशिक्षण कार्य किया। पता—एम ५/६ तुलसी मानस मंदिर कालोनी, वाराणसी २२१००५

OPINION ABOUT DHRUPAD ANNUAL 1986

ABHIJIT CHATTERJEE
Asst. Secretary (Pub.)

D. O. No : Pub/13/2-1/86-87/49/8

August 14, 1986

Dear Dr. Rai

Thank you for your letter of 24 May and the copy of your *Dhrupad Annual 1986*.

It is a very substantial issue that you have produced, and for this the publishers are to be congratulated. I regret, however, that we do not as a matter of policy carry reviews of periodicals in our journal *Sangeet Natak*. All the same, the annual will be a useful addition to our Library.

Thanking you,

Yours sincerely,
Abhijit Chatterjee

Dr. Ganga Sagar Rai
Associate Editor
All-India Kashiraj Trust
Fort, Ramnagar
VARANASI (U. P.)

BOARD OF THE TRUSTEES

OF

THE MAHARAJA BENARES VIDYA MANDIR TRUST

DHRUPAD MELA SAMITI

of

MAHARAJA BENARES VIDYA MANDIR TRUST

PUBLICATIONS OF THE ALL INDIA KASHIRAJ TRUST

Critical Editions and Translations

1.	*Vāmana Purāṇa*—Crit. Ed.	Rs.	250
2.	*Vāmana Purāṇa*—Text with English Translation	Rs.	200
3.	*Vāmana Purāṇa*—Text with Hindi Translation	Rs.	100
4.	*Kūrma Purāṇa*—Crit. Ed.	Rs.	250
5.	*Kūrma Purāṇa*—Text with English Translation	Rs.	200
6.	*Kūrma Purāṇa*—Text with Hindi Translation	Rs.	100
7.	*Varāha Purāṇa*—Crit. ed. Ordinary edition—Rs. 265/-; Deluxe edition—	Rs.	1000
8.	*Varāha Purāṇa*—Text with English Translation Ordinary edition—Rs. 220/-; Deluxe edition—	Rs.	700
9.	Varāha Purāṇa (Text only)	Rs.	100
10.	*Varāha Purāṇa*—Hindi Translation	Rs.	240
11.	*Devīmāhātmya*	Rs.	10
12.	*Svargakhaṇḍa of the Padma Purāṇa*	Rs.	40
13.	*Rāmacarita-Mānasa*	Rs.	15

Studies

14.	Matsya Purāṇa—A Study By V. S. Agrawala	Rs.	40
15.	Garuḍa Purāṇa—A Study By N. Gangadharan	Rs.	40
16.	Nārada Purāṇa—A Study By K. Damodaran Nambiar	Rs.	75
17.	Nīti-Section of Purāṇārthasaṁgraha	Rs.	2
18.	Vyāsa-Praśasti By V. Raghavan	Rs.	1
19.	Greater Rāmāyaṇa By V. Raghavan	Rs.	30
20.	Viṣṇupurāṇa Visayānukramaṇi By Madhvacharya Adya	Rs.	5
21.	Bṛhaspati-Saṁhitā of the Garuḍa Purāṇa By L. Sternbach	Rs.	10
22.	Mānavadharmaśāstra [I-III] and Bhaviṣya Purāṇa	Rs.	20
23.	Dr. Hazra Commermoation Volume, Part I	Rs.	150

Journal

24. Purāṇa—Half Yearly Research Journal

Annual Subscription—Inland Rs. 50, Foreign £ 5

The books can be had of the General Secretary, All-India Kashiraj Trust, Fort, Ramanagar, Varanasi and also from all leading Indological Book-Sellers.